गांधी-साहित्य--५

धर्म-नीति

[गांधीजीकी 'नीति-धर्म', 'सर्वोदय', 'मंगल-प्रभात' और 'आश्रमवासियोंसे' नामक पुस्तकों तथा नीतिमय जीवन-संबंधी स्फुट लेखोंका संग्रह]

१९६२

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद की सहमति से

दूसरी बार : १९६२
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

गांधी-साहित्यकी इस मालासे पाठक भली-भांति परिचित हैं। अब-तक इसमें नौ पुस्तकें निकल चुकी हैं।

प्रस्तुत संग्रहमें गांधीजीकी १. नीतिधर्म २. सर्वोदय ३. मंगलप्रभात और ४. आश्रमवासियोंसे, ये चार पुस्तकें दी गई हैं।

इनमेंसे पहली और दूसरी पुस्तक 'नीतिधर्म' और 'सर्वोदय' गांधीजीके हिंदुस्तान आनेके पहले दक्षिण अफ्रीकामें तथा तीसरी और चौथी यरवदा-जेलसे सन् १९३० में और '३२ में पत्ररूपमें लिखी गई थीं।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का सारांश है। बापूके जीवनपर रस्किनकी इस पुस्तकने विशेष प्रकाश डाला था।

ये चारों पुस्तकें गांधीजीके धर्म और नीति-संबंधी विचारोंपर प्रकाश डालनेवाली हैं। वास्तवमें तो गांधीजी धर्म और नीतिको अलग नहीं मानते थे। उनका कहना है कि धर्म ही नीति है और नीतिको धर्मके अनुसार होना चाहिए। इसी खयालसे इस संग्रहका नाम 'धर्म-नीति' रक्खा गया है।

दूसरा संस्करण

इस नये संस्करणमें गांधीजीके नीतिमय जीवन-संबंधी कुछ स्फुट लेख अंतमें जोड़ दिये गए हैं। आशा है, जीवनके सही निर्माणमें सहायता देने-वाली यह पुस्तक व्यापक रूपसे प्रसारित होगी।

—मंत्री

विषय-सूची

ध र्म - नी ति

नीति - धर्म

[नीति-नियम और उनके पालन-संबंधी विचार]

प्रस्तावना

इन दिनों दुनियामें पाखंड बढ़ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्मका माननेवाला हो, उस धर्मके ऊपरी रूप-मात्रका विचार करता है और अपने सच्चे फर्जको भूल जाता है। अत्यन्त धन-संग्रहके कारण दूसरे आदमियोंको क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा, इसका खयाल हम शायद ही करते हैं। अतिशय सुकुमार नन्हें-नन्हें प्राणियों को मारकर अगर उनकी खालके मुलायम मोजे बनाये जा सकें तो यूरोपकी महिलाओंको उनकी खालके मोजे पहननेमें ज़रा भी हिचक न होगी। मि० रॉकफेलरकी गिनती दुनियाके बड़े-से-बड़े धन-कुबेरोंमें है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्‌ठा करनेमें उन्होंने नीतिके कितने ही नियमोंको तोड़ा है। यों चारों ओर देखकर यूरोप और अमरीकाके बहुतेरे मनुष्य धर्मके विरोधी हो बैठे हैं। वे यह दलील देते हैं कि दुनियामें अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना बढ़ गया है, वह बढ़ना न चाहिए। यह विचार भूलसे भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदाके अभ्यासके अनुसार अपना दोष न देखकर अपने औजारको दोष देता है। वैसे ही लोग अपनी खोटका विचार न कर धर्मको ही बुरा कहते हैं और स्वच्छन्द होकर जो जीमें आये वह करते और कहते हैं। यह देखकर अमरीका और यूरोपमें ऐसे बहुतसे लोग निकल आये हैं, जो यह सोचकर कि यों सब धर्मों का नाश हो जाय तो दुनियाकी भारी हानि होगी और लोग नीतिका रास्ता छोड़ देंगे, जुदा-जुदा रास्तों से लोगोंको नीति-पथपर लानेका प्रयास कर रहे हैं। एक ऐसा मंडल स्थापित हुआ है, जो सब धर्मोंके तत्त्वोंकी खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म नीति तो सिखाते ही हैं, उनका आधार भी अधिकांशमें नीतिके नियम ही होते हैं, और कोई आदमी धर्मविशेषको माने या न माने, पर वह नीतिके नियमों का पालन न कर सके तो ऐसे आदमीके किये इस लोक या परलोकमें अपना या दूसरेका भला नहीं होने-

का। जो लोग कुछ पंथों-संप्रदायोंमें पाखंडका बोलबाला देखकर धर्ममात्रको नफरतकी निगाहसे देखते है, ऐसे लोगोंकी शंकाओंका समाधान करना इस मंडलका उद्देश्य है। इस मंडलको चलानेवाले सब धर्मोंका सार निकालकर उसमेसे केवल नीतिके विषयोंकी चर्चा करते हैं। इस मतको वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते है। इस मंडलका काम किसी भी धर्मका खंडन करना नहीं है। चाहे जिस धर्मके माननेवाले उसमें दाखिल हो सकते हैं। इस मंडलका लाभ यह होता है कि इस तरहके लोग अपने धर्मका अधिक दृढ़तासे पालन करने लगते हैं और उसमें नीतिके विषयमें जो उपदेश दिये गए हों, उनपर अधिक ध्यान देते है। इस मंडलके सदस्य पक्के मनसे मानते हैं कि मनुष्यको नीतिका पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनियाका विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अंतमें भारी हानि होगी। मि० साल्टर नामक अमरीकाके एक विद्वान् हैं। उन्होंने एक सुदर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें धर्मकी चर्चा नामको भी नही, पर उसके उपदेश सभी आदमियोंपर घटित हो सकते हैं। इस पुस्तकके लेखकके विषयमें इतना ही कहना आवश्यक है कि जितना करनेकी सलाह वह हमें देता है, उतना खुद भी करता है। पाठकोंसे मेरा अनुरोध है कि जो कोई भी नीति-वचन उनको सच्चे जान पड़ें, उनके अनुसार वे चलनेका यत्न करें तो मैं अपने इस प्रयासको सफल मानूगा।

—मो० क० गांधी

नी ति - ध र्म

: १ :

प्रारंभ

जिस वस्तुसे हमारे मनमें अच्छे विचार उठते हों, वह हमारी नीति, सदाचारका फल मानी जाती है। दुनियाके साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीतिका मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्यको किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्यके मनके भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं—एकसे वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरेसे उसे कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनोंको अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदिका क्या फल होता है, और जहां ये तीनों इकट्ठे हों वहां कैसी खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीतिका विचार तो वास्तुविशारदके नकशेके जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नकशा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीतिका विचार नकशेकी तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीतिके वचन याद करते हैं, उस विषय-

पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं, और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीतिके विचारोंको इस लोकमें नहीं, परलोकमें अमलमें लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान् मनुष्यने कहा है कि हमें संपूर्ण होना हो तो हमें आजसे ही नीतिके अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट क्यों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुनकर हमें चौंक न उठना चाहिए, बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझकर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान् योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोकके युद्धकी समाप्तिपर अर्ल डरबीसे मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचनापर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता, वह आपने मेरे हाथसे छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होनेको बुलाया तो फिर मेरे पहुंचनेके पहले लड़ाई न लड़नी थी।" इस प्रकार नीतिमार्गमें जब किसीको जिम्मेदारी लेनेका हौसला हो तभी वह उस रास्तेपर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, संपूर्ण है, उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्यायकी सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग, जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीतिमार्गको कैसे छोड़ सकते हैं! नीतिका आचरण करनेवाला विफल हो तो इसमें कुछ नीतिका दोष नहीं है; बल्कि जो लोग नीति भंग करते हैं, वे ही अपने-आपको दोषभाजन बनाते हैं।

नीतिमार्गमें नीतिका पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करनेकी बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पानेके लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना

उससे रहा नहीं जाता। खूराक और भलाई दोनोंकी तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकारका आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करनेका अवसर दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवालेका एहसानमंद होता है; वैसे ही जैसे भूखा अन्न देनेवालेको दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपरसे मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतनेके मानी तो यह हुए कि हम महज सरहदपर पहुंच पाये। इस मार्गके अंदर इनके सिवा और बहुतकुछ मनुष्यको करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है—यह सोचकर नहीं कि वैसा करनेसे हमें कोई लाभ होगा।

: २ :

उत्तम नीति

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीतिकी बहुत परवा नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनियाके धर्मोंको बारीकीसे देखा जाय तो पता चलेगा कि नीतिके बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीतिमें धर्मका समावेश अधिकांशमें हो जाता है। जो अपने स्वार्थके लिए नहीं,

बल्कि नीतिके खातिर नीतिके नियमोंका पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूसमें ऐसे आदमी हैं, जो देशके भलेके लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगोंको नीतिमान समझना चाहिए । जेरेमी बेंथमको, जिसने इंगलैंडके लिए बहुत अच्छे कानूनोंके नियम ढूंढ़ निकाले, जिसने अंग्रेज जनतामें शिक्षाके प्रसारके लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियोंकी दशा सुधारनेके यत्नमें जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीतिका यह नियम है कि हम जिस रास्तेको जानते हों, उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारेमें हम जानते हों कि वह सही रास्ता है—फिर उस रास्तेसे हम वाकिफ हों या न हों—उसपर हमें चलना ही चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उसपर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीतिका पालन किया जाय तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखनेमें आती है।

अपनी इच्छाओंकी जांच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज हमारे पास होती है, उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती, उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकारकी होती है। एक तो होती है अपना निजका स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छाको पूरा करनेके प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरी प्रकारकी इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरोंका भला करनेकी ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उसपर हमें गर्वसे फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य

नहीं आंकना है; बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करनेकी इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओंके पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय, उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें, जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगोंको ठगें तो हम नीतिके मार्गसे च्युत हो गए। जो करना हमें उचित है उसे करनेमें नीति है। इस तरह नीतिकी आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुंबमें अनीतिके बीज—जैसे फूट, असत्य इत्यादि—देखनेमें आते हैं वह जनसमाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगारकी मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्यका पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाईका असर कुछ बाहरसे नहीं हो सकता; वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोपमें अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ी-भर शान्तिसे न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगोंमें नीति न थी। हम नीतिके समस्त नियमोंका दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जातिका भला करनेका प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजीसे नीति-रूपी संदूकको खोलकर देखा जाय तो नीतिके दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

इन अध्यायोंके नीचे हम गुजराती या उर्दू-कवियोंकी नीति-नियमोंसे संबंध रखनेवाली कविताएं चुनकर देते जायंगे, इस आशासे कि उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेंगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हें कंठस्थ भी करेंगे। इसका श्रीगणेश हम

श्रीमलबारीकी पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' ('आदम और उनकी दुनिया') से कर रहे हैं[१] :

क्युं (क्यों) मुश्ताक होके तुं (तू) फिरता बिरादर ?
अये (ऐ) दाना[२] तवाना[३] होनार तमे हाजर (होना है तुझे, हाजिर)
चले गये बड़े फ़िलसुफ़ां[४] पहलवानां ।
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना (दीवाना) !
न दाना की दानाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेकां बी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी ।
किसे यारी हरदम ने (को) देता ज़माना;
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना !
क़ुवत[५] (क़ूवत) पीलतन की तुं (तू) लेके फिरेगा ।
ज़माना अचानक शिकस्त[६] आके देगा ।
अक़लकी नक़ल बे अक़ल बस बनाना;
अरे दोस्त दाना तुं (तु) होगा दिवाना !
गुज़ारे (की) अवल बचगीकी बादशाही;
होनारत[७] दरद (दर्द) देवे जमकी गवाही ।
बेताक़ा (क) त की (कि) स राह उठाना सोलाना (सुलाना);
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना !
न दुनियामें तेरा हुवा को (कोई) न होगा,
न तुं (तू) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),
सिवा पाक दादार[८] सबकोइ (कोई) बेगाना;
अरे दोस्त दाना. (तुं) (तू) होगा दिवाना !

---

[१] उर्दू-हिंदी पद्योंके कितने ही शब्द अशुद्ध या गुजराती रूपमें हैं उनके वही रूप रहने दिये गए है और शुद्ध रूप कोष्ठमें दे दिये गए हैं—अनु०

[२] बुद्धिमान; [३] बलवान; [४] फ़िलासफ़र, तत्त्ववेत्ता; [५] बल; [६] हार, पराजय; [७] होनेवाली पीड़ा; [८] परमेश्वर ।

: ३ :

नीतियुक्त काम कौन-सा ?

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीति-युक्त है ? यह सवाल करनेमें नीतिवाले और बिना नीतिके कामोंकी तुलना करनेका हेतु नहीं है; बल्कि जिन कामोंके खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं, और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषयमें विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामोंमें खासतौरसे नीतिका समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाजके अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़िके अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमोंका अनुसरण हम न करें तो अंधा-धुंधी चलने लगे और दुनिया का कार-बार बंद हो जाय; पर यों रूढ़िके पीछे चलनेको नीतिका नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छासे किया गया हो। जबतक हम मशीनके पुरजेकी तरह काम करते हों तबतक हमारे काममें नीतिका प्रवेश नहीं होता। मशीनके पुरजेकी तरह काम करना हमपर फर्ज हो और हम करें, तो यह विचार नीतियुक्त है; क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धिसे काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और वह काम करनेका विचार करना, इन दोनोंमें जो भेद है वह ध्यानमें रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफीकी चिट्ठी ले जानेवाले चपरासी का राजाके किये हुए नीतिमय कार्यमें यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका

फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमागसे काम नही लेता, और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाहमें बहता जाता है, वह नीतिको कैसे समझेगा ! कितनी ही बार मनुष्य रूढ़िके विरुद्ध होकर परमार्थ करनेके इरादेसे कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगोंके सामने भाषण करते हुए कहा था, "जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते, तबतक मेरे बारेमें तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिंता नहीं है।" यह स्थिति हमें तबतक प्राप्त नहीं होनेकी, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अंतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्यका साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वतः अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है; वह काम हमने अच्छा करनेके इरादेसे किया हो, यह भी जरूरी है। अर्थात् कार्य-विशेषमें नीति होना न होना करनेवालेके इरादेपर अवलंबित होता है। दो आदमियोंने एक ही काम किया हो, फिर भी एकका काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरेका नीतिरहित। जैसे एक आदमी दयासे द्रवित होकर गरीबोंको खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचारसे वही काम करता है। दोनोंका काम एक ही है; फिर भी पहलेका काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरेका नीतिरहित। नीति-युक्त और नीतिरहित शब्दोंके बीच जो अंतर है, वह यहां पाठकों-को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त कामका असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीतिके विषयमें विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुभ हेतुसे किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नहीं,

फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकंदरको इतिहासकारोंने महान् माना है। वह जहां-जहां गया, वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वादसे चख रहे हैं। पर यह सब करनेका उद्देश्य बड़प्पन पाना था; अतः कौन कह सकेगा कि उसके काममें नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर उसे नीतिमान नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारोंसे साबित होता हैं कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादेसे किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दबावके भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देरसे पहुंचूं तो नौकरीसे हाथ धोऊंगा, इस डरसे मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगीकी जिन्दगी बिताऊं तो इसमें भी नीतिका योग नहीं है; पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आस-पास दरिद्रता और दु ख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबीमें और सादगीके साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायेंगे, इस डरसे उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती; बल्कि इसका नाम स्वार्थबुद्धि है। मैं उनका भला चाहूं, मेरी समृद्धिमें उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है; अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंगलैंडके राजा दूसरे रिचर्डके पास जब आंखें लाल किये हुए किसानोंका समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथसे अधिकार-पत्र लिखकर उनके हवाले कर दिया; पर

जब किसानोंका डर दूर हो गया तब उस फरमानको उसने जोर-जुल्मसे वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्डका पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था, तो यह उसकी भूल है। रिचर्डका पहला काम केवल भयसे किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काममें डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहनेमें यह हेतु नहीं है कि जिस काममें स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस कामको नीति-युक्त कहें तो यह नीतिको धब्बा लगानेके समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहार-नीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभकी दृष्टिसे की गई हो वह प्रीति नहीं।[1]

जैसे इस लोकमें लाभके उद्देश्यसे किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता, वैसे ही परलोकमें लाभ मिलेगा, इस आशासे किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियरने ईश्वरसे प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मतसे भगवानकी भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरनेके बाद उत्तम दशा भोगनेको मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि वह मनुष्यका कर्त्तव्य है। महान् भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथमें मशाल और बाएं हाथमें पानीकी बाल्टी यह जतानेके लिए रखना चाहती थी, कि मशालसे स्वर्गके सुखको जला डाले

---

[1]एक उर्दू कविने भी यही बात कही है—"दोस्ती और किसी गरजके लिए! यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"—अनु०

और पानीसे दोजखकी आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोजखके भयके बिना खुदाकी इबादत करे। इस तरहकी नीतिका पालन उस आदमीका काम है जो सिरपर कफन बांधे फिरता हो। मित्रके साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मनसे दगाबाजी करना, यह नामर्दीका काम है। डर-डरकर भले काम करनेवाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभावका माना जाता था, उसने अपने लोभके आगे अपनी नीतिकी बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसेके लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हलके काम से अपने दूसरे अच्छे कामोंको धो डाला। इस उदाहरणसे हम देख सकते हैं कि मनुष्यकी नीतिकी परीक्षा करना कठिन है; क्योंकि उसके मनकी परख हम नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरणके आरंभमें नीतियुक्त काम कौन है, यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाब भी हमें मिल चुका। कैसे आदमी नीतिका पालन कर सकते हैं, यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपरके विषयसे मेल रखनेवाली कविता :

हरिनो मारग छे शूरानो, कायरनुं नहि काम जोने।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, बळती लेवुं नाम जोने।
सुत वित्त दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने;
सिंधु मध्ये मोती लेवा, मांहि पड्या मरजीवा जोने।
मरण आगमें ते भरे मुट्ठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे उभा ते जूए तमाशो, ते कोडी नव पामे जोने।
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने;
मांहि पड्या ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा साटे मोंघी वस्तु, सांपडवी नहिं सहेल जोने;
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने॥

भावार्थ—हरिका मार्ग शूर-वीरके लिए है, उसमें कायरका काम नहीं। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके बाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अंतमें अपना शीश भी समर्पण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीया मोती पानेके लिए समुद्रके भीतर पैठता है। जो मौतके मुंहमें पैठे वही मोतियोंसे अपनी मुट्ठी भर और हृदयकी पीड़ा मेट सकता है। किनारे खड़ा रहनेवाला तमाशा-भर देखता है; उसके हाथ एक कौड़ी भी नहीं लगती। प्रेमका पंथ पावककी ज्वाला है; जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खड़ा रहनेवाला उसकी आंचसे जलता है। सिर देकर उसके बदले दुर्लभ वस्तुका पाना सरल नहीं है। ऐसे लोग अपने मनका मैल त्याग करके महापदको प्राप्त कर अमर होते हैं।

: ४ :

अच्छा नियम कौन-सा है ?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारेमें हम सदा मत प्रकट किया करते हैं। कुछ कामोंसे हमें संतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते हैं। कार्य विशेषके भले या बुरे होनेका आधार इस बातपर नहीं होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है या हानिकारक; पर उसकी तुलना करनेमें हम जुदे ही पैमाने से काम लिया करते हैं। हमारे मनमें कुछ विचार रम रहे होते हैं, उन्हींके आधारपर हम दूसरे आदमियों के कामोंकी परीक्षा किया करते हैं। एक आदमीने दूसरे आदमीका कोई नुकसान किया हो

तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो, उस कामको हम खराब मानते हैं। कितनी ही बार नुकसान करनेवालेकी ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमें तनिक भी हिचक नहीं होती। यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्योंका हेतु हम सदा देख नहीं सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते हैं। फिर भी हेतुके प्रमाणमें कामकी परीक्षा करनेमें बाधा नहीं होती। कुछ बुरे कामोंसे हमें लाभ होता है, फिर भी हम मनमें तो समझते ही हैं कि वे बुरे हैं।

अतः यह सिद्ध हुआ कि किसी कामके भले या बुरे होनेका आधार मनुष्यका स्वार्थ नहीं होता। उसकी इच्छाएं भी इसका आधार नहीं होतीं। नीति और मनकी वृत्तिके बीच सदा संबंध देखनेमें नहीं आता। बच्चेपर ममता होनेके कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते हैं; पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते हैं कि उसे देनेमें अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी बात है; पर नीति-विचारके द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विष-रूप हो जाता है।

हम यह भी देखते हैं कि नीतिके नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। हमारी आंखें खुली हों तो हमें सूरज दिखाई देता है, बंद हों तो नहीं दिखाई देता; इसमें हमारी निगाहमें हेर-फेर हुआ, न कि सूरजके होनेमें। नीतिके नियमोंके बारेमें भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान-दशामें हम नीतिको न समझ सकें। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमें समझनेमें कठिनाई नहीं पड़ती। मनुष्य सदा भलेकी ओर ही निगाह रखे, ऐसा क्वचित् ही होता है। इससे अकसर स्वार्थकी दृष्टिसे देखकर अनीतिको नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी

आनेको है जब मनुष्य स्वार्थका विचार त्यागकर नीति-विचारकी ओर ही ध्यान देगा। नीतिकी शिक्षा अभी बिलकुल बचपनकी अवस्थामें है। बेकन और डार्विनके पहले शास्त्रकी जो स्थिति थी वही आज नीतिकी है। लोग सच्चा क्या है, उसे देखनेको उत्सुक थे। नीतिके विषयको समझनेके बदले वे पृथ्वी आदिके नियमोंकी खोजमें लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान् आपको दिखाई दिये हैं जिन्होंने लगनके साथ कष्ट सहकर पिछले वहमोंको एक ओर रखकर नीतिकी खोज में जिंदगी बिताई हो? जब प्राकृतिक रहस्योंकी खोज करनेवाले आदमियोंकी तरह वे नीतिकी खोज करनेमें तल्लीन रहें, तब हम यह मानें कि अब नीति-विषयक विचार इकट्ठे किये जा सकते हैं। शास्त्र या विज्ञानके विचारोंके विषयमें आज भी विद्वानोंमें जितना मतभेद रहता है उतना नीतिके नियमोंके विषयमें होना मुमकिन नहीं। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसेतक हम नीतिके नियमोंके विषयमें एक राय न रख सकें; पर उसका अर्थ यह नहीं है कि हम खरे-खोटेका भेद नहीं समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्योंकी इच्छा से अलग नीतिका कोई नियम है, जिसे हम नीतिका नियम कह सकते हैं। जब राज-नैतिक विषयोंमें हमें नियम-कानून दरकार है तब क्या हमें नीतिके नियमोंका प्रयोजन नहीं है, भले ही वह नियम मनुष्य-लिखित न हो? वह मनुष्य-लिखित होना भी न चाहिए; और अगर हम नीति-नियमोंका अस्तित्व स्वीकार करें तो जैसे हमें राजनैतिक नियमोंके अधीन रहना पड़ता है वैसे ही नीतिके नियमोंके अधीन रहना भी हमारा कर्त्तव्य है। नीति के नियम राजनैतिक और व्यावसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। मुझसे या दूसरे

किसीसे यह नहीं बन सकता कि व्यावसायिक नियमों के अनुसार न चलकर मैं गरीब बना रहूं तो क्या हुआ !

यों नीतिके नियम और दुनियादारी के नियमके बीच भारी भेद है; क्योंकि नीतिका वास हमारे हृदयमें है। अनीतिका आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा——झूठा सच्चा कभी नहीं हो सकता। और जहां जन-समाज बहुत दुष्ट हो, वहां भी लोग नीतिके नियमोंका पालन न करते हों तो भी पालनका ढोंग करेंगे; अर्थात् नीतिका पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियोंको भी कबूल करनी पड़ती है। ऐसी नीतिकी महिमा है। इस प्रकार की नीति रीति-रिवाज या लोक-मतकी परवा नहीं करती। लोक-मत या रीति-रिवाज जहांतक अनीतिके नियमका अनुसरण करता दिखाई दे, वहींतक नीतिमान् पुरुषको वह बंधन-कारक है।

ऐसा नीतिका नियम कहांसे आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढ़ता नहीं; क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्योंमें जुदा-जुदा कानून-कायदे देखने में आते हैं। सुकरात के जमानेमें, जिस नीतिका अनुसरण वह करता था, बहुतसे लोग उसके विरुद्ध थे; फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनियामें द्वेष और झूठकी दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपरसे यह कह सकते हैं कि नीतिके नियम सर्वोपरि हैं और ईश्वरीय हैं।

ऐसे नियमका भंग कोई प्रजा या मनुष्य अंततक नहीं कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अंतमें उड़ जाता है, वैसे ही अनीतिमान् पुरुष का भी नाश होता है। सीरिया और

बेबीलोनमें अनीतिका घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोमने जब अनीतिका रास्ता पकड़ा तब उसके महान् पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीसकी जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीतिको टिका न सकी। फ्रांसमें विप्लव हुआ, वह भी अनीतिके ही विरोध में। वैसे ही अमरीकामें भला वेंडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दीपर बैठी हो तो भी टिकनेकी नहीं। नीतिके इस अद्‌भुत नियमका मनुष्य जो पालन करता है वह ऊपर उठता है; जो कुटुम्ब पालन करता है वह बना रह सकता है और जिस समाजमें उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है। जो प्रजा इस उत्तम नियमका पालन करती है वह सुख, स्वतंत्रता और शांतिको भोगती है।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता:

मन तुंहि तुंहि बोलेरे, आसुपना जेवु तन तारूं;
अचानक उड़ीजाशे रे, जेम देवतामां दारू ।
झाकळ जळपळमां वळीजाशे, जेम कागळने पाणी;
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूळधाणी ।
पाछळथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारूं मारूं ।
काचनो कुंपो काया तारी, वणसतां न लागे वार ।
जीवकायाने सगाई केटली, मूकी चाले बनमोझार,
फोकट पुल्यां फरवुंरे, ओचिन्तु थाशे अंधारूं ।
जायुं ते तो सर्वे जवानुं, उगरवानो उधारो;
देव, गांधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणनो वारो ।
आशानो महेल उंचोरे, नीचुं आ काचुं कारभारुं ।
चंचल चित्तमां चेतीने चालो, भाळो हरिनुं नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम ।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारूं. मन०

—काव्यदोहन

भावार्थ—मन, यह तेरा तन सपनेके जैसा है। अचानक इस तरह उड़ जायगा, जैसे आगमें डाली हुई शराब। ओसका पानी पलमें उड़ जायगा, कागजपर पानीके समान। उसी प्रकार तेरी कायारूप बाड़ी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तू व्यर्थ 'मेरा-मेरा' करता है। तेरी काया शीशेकी कुप्पी-जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देहका नाता ही कितना! एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवनपर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जानेवाला है, इसमेंसे बचना कठिन है। देवता, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य सबके मरणका दिन नियत है। आशाका महल ऊंचा और इस दुनियाका कच्चा कारबार नीचा है। तू चंचल चित्तमें चेतकर चल और भगवानका नाम ले! जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पानेका उपाय कर, जहां तेरी आत्माको विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वीसे ऊपर कोई नहीं रहनेवाला है।

: ५ :

नीतिमें धर्मका समावेश है ?

इस प्रकारका विषय कुछ विचित्र माना जायगा। आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीजें हैं। फिर भी इस प्रकरणका उद्देश्य नीतिको धर्म मानकर विचार करना है। इससे कितने ही पाठक ग्रंथकारको उलझनमें पड़ा हुआ मानेंगे। जो मानते हैं कि नीतिमें धर्मका समावेश नहीं होता और जो यह मानते

हैं कि नीति हो तो धर्मकी आवश्यकता नहीं है, दोनों पक्ष यह आरोप करेंगे। फिर भी नीति और धर्म में निकट संबंध है, यह दिखाना ग्रंथकारका निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीतिका प्रसार करनेवाले मंडल भी धर्मको नीतिद्वारा मानते हैं।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचारमें नीतिके बिना धर्मकी स्थिति संभव है। ऐसे बहुतेरे दुराचरणी पुरुष देखनेमें आते हैं जो अघोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होनेका गर्व रखते हैं। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला-जैसे नीतिमान पुरुष पड़े हैं जो अपने-आपको नास्तिक कहनेमें गर्व अनुभव करते है और धर्मका नाम सुनकर भागते हैं। ये दोनों मतवाले मनुष्य भूल करते हैं और पहले मतवाले तो भूले ही नहीं हैं, धर्मके बहाने अनीतिका आचरण कर खतरनाक भी हो गए हैं। इसलिए इस प्रकरणमें मैं यह दिखाऊंगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनोंके द्वारा देखनेसे नीति और धर्म एक ही दिखाई देते हैं और उन्हें एक जगह रहना भी चाहिए।

पुरानी नीति केवल संसारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते हैं। यों करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी नीति नष्ट हो गई। बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालों का ही नाश हो जाता। ऐसा होना हम आज भी देख रहे हैं। जो अच्छे रिवाज आदमी जाने-अनजाने चलाया करता है, वे न नीति है और न धर्म। फिर भी दुनियामें जो काम नीतिके अंदर आते हैं वे ऊपर बतलाये हुए भले रिवाज ही हैं।

फिर धर्मकी कल्पना भी अक्सर मनुष्यके मनमें महज ऊपर-ऊपरसे ही रहती है। कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए

खतरोंको दूर करनेके लिए कोई धर्म मानते हैं। यों भयसे या प्रीतिसे किये गए कार्यको धर्म मानना भूल है।

पर अंतमें ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य संकलपपूर्वक सोच-विचारकर, नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिए, दृढ़ निश्चयके साथ अपना सर्वस्व होमनेको तैयार रहकर नीति के रास्ते पर चलता और बिना मुंह पीछे किये कदम बढ़ाता जाता है। तब माना जायगा कि उसपर नीतिका रंग चढ़ा।

ऐसी नीति धर्मके सहारेके बिना कैसे टिकेगी! दूसरे आदमी-का थोड़ासा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकूं तो मैं वह नुकसान क्यों न करूं? दूसरेकी हानि करके होनेवाला लाभ लाभ नहीं, हानि है। यह घूंट मेरे गलेसे कैसे उतरे! बिस्मार्कने ऊपरसे देखनेमें जर्मनीका हित करनेके लिए अति भयानक कर्म किये। उसकी शिक्षा कहां चली गई? सामान्य समयमें बच्चोंके साथ वह नीतिके वचनोंकी जो बकवास करता था वे वचन कहां गुम हो गए? उनको याद करके उसने नीतिका पालन क्यों नहीं किया? इन सारे प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट रीतिसे दिया जा सकता है। ये सारी अड़चनें आईं और नीति नहीं पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीतिमें धर्म नहीं समाया हुआ था। नीति-रूपी बीजको जबतक धर्म-रूपी जलका सिंचन नहीं मिलता, तबतक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानीके बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसे-तक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीतिमें सच्चे धर्मका समावेश होना चाहिए। इसी बातको दूसरी रीतिसे यों कह सकते है कि धर्मके बिना नीतिका पालन नहीं किया जा सकता; यानी नीतिका आचरण धर्म-रूपमें करना चाहिए।

फिर हम यह भी देखते हैं कि दुनियाके बड़े धर्मोंमें जो नीतिके नियम बताये गए हैं वे अधिकांशमें एक ही हैं और उन धर्मोंके प्रचारकोंने यह भी कहा है कि धर्मकी बुनियाद नीति है। नींवको खोद डालिये तो घर अपने-आप ढह जायगा। वैसे ही नीति-रूपी नींव टूट जाय तो धर्म-रूपी इमारत भी दो-चार दिनमें ही भूमिसात् हो जायगी।

ग्रंथकार यह भी बताता है कि धर्म और नीतिको एक कहनेमें कोई अड़चन नहीं है। डाक्टर क्वाइट इबादतमें यह कहता है—"या खुदा, नीतिके सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम ज़रा सोचें तो देखेंगे कि हम मुंहसे तो खुदा या ईश्वरको पुकारें और बगलमें खंजर छिपाये रखें—'मुखमें राम बगलमें छुरी' को चरितार्थ करें तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी फरियाद सुनेगा! एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओं-को तोड़ता है; दूसरा नामसे तो ईश्वरको नहीं पहचानता, पर अपने कामसे उसको भजता है और ईश्वरीय नियमोंमें उनके कर्त्ताको देखता है और देखकर उसके कानूनोंका पालन करता है—इन दोनोंमें हम किसे धर्मवान और नीतिमान मानें? इस सवालका जवाब देनेमें हम क्षण-भर भी सोचे-विचारे बिना पक्के तौरपर कह सकते हैं कि दूसरा आदमी धर्मवान और नीतिमान माना जायगा।

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता :

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान);
खोजत सारा जग फीरो (फिरचो) मिले न श्री भगवान्।
सहस्त्र (स) नाम से सोचकी एक न मिलो जवाब,
जप तप कि (की) ना जन्म तक (भर) हरी हरी
(हरि हरि)—गी (गि) ने हिसाब।

साधु-संतो (सन्त) को संग किनो बेद-पुरान अभ्यास;
फिर बी (भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास।
कहोजी प्रभु अब क्युं (क्यों) मिले सोचुं (चूं) जीकु (को) आज;
जन्म जुदाई यह भई कछु नहिं सुझत इलाज।
अंतर्यामी तब कहे "क्युं तुं (क्यों तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु बकवत[1] फोकट[2] फिरे निसि-दिन ढुंढत (ढूंढत) स्वार्थ,"
मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतरमें अहंकार;
दंभी ऐसे दंभसे, दि(दी)नानाथ मिलनार[3] ?
ठगविद्या मं (में) निपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप;
सकल जगत कुं (को) ठगत तुं (तू), अंत ठग रह्यो आप।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध बुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप;
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप।[4]

—बहरामजी मलबारी

: ६ :

नीतिके विषयमें डार्विन[5]के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छासे ही करना इसीमें हमारी भलमनसी है। आदमीकी शराफत की सच्ची पहचान यह है कि वह पवनके प्रवाह से इधर-उधर भटकते हुए बादलोंकी तरह

---

[1]प्रभुके नाम का बकवास रटता हुआ; [2]व्यर्थ [3]मिलनेवाले; [4]थप्पड़; गुजराती में इस शब्द का अर्थ धोखा भी होता है।

[5]डार्विन पिछली सदीमें एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसनें शास्त्रकी महती खाजें की हैं। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकनशक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं, जो अति पठनीय और मननीय हैं। उसने बहुतसी मिसालों और दलीलोंसे यह दिखाया

धक्का खानेके बजाय अपनी जगहपर अचल रहे और जो उसे उचित जान पड़े वह करे और कर सके।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है, यह हमें जान लेना चाहिए। हम जानते हैं कि हम हर तरहसे अपने मालिक खुद नहीं हैं; हमसे बाहरकी कितनी ही स्थितियां हैं जिनका अनुसरण करते हुए हमें चलना होता है। जैसे जिस देशमें हिम-प्रदेशकी-सी ठंड पड़ती है वहां हमारी इच्छा हो या न हो, फिर भी शरीरको गरम रखने के लिए हमें कायदेसे कपड़े पहनने ही पड़ते हैं। यानी हमें समझदारी के साथ व्यवहार करना पड़ता है।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहरकी और आसपासकी परिस्थितिको देखते हुए हमें नीतिके अनुसार आचरण करना पड़ता है या नहीं, अथवा हम इस बातकी कोई परवा नहीं कर पा रहे हैं कि हमारे बरताव में नीति है या अनीति।

इस प्रश्नपर विचार करते हुए डार्विनके मत की जांच-पड़ताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीतिके विषयपर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहरकी वस्तुओंके साथ नीतिका लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह

है कि आदमीकी आकृतिकी उत्पत्ति एक तरहके बंदरोंसे हुई है। यानी बहुत तरहके प्रयोग और बहुतसी जांच-पड़ताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमीकी शकल और बंदरकी शक्लमें बहुत फर्क नहीं है। यह खयाल सही है या नहीं, इससे नीतिके विषयका कुछ बहुत नजदीकका संबंध नहीं है। पर डार्विनने ऊपर लिखा विचार प्रकट करनेके साथ-साथ यह भी जताया है कि नीतिके विचार मानव-जातिपर क्या असर डालते हैं। और डार्विनने जो कुछ लिखा है उसपर बहुतेरे विद्वानोंकी श्रद्धा है, इसलिए डार्विनके विचारों पर यह प्रकरण लिखा है।

सोचते हैं कि मनुष्य नीतिका पालन करते हैं या नहीं, इसकी परवा हमें नहीं करनी है और दुनियामें केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हें डार्विनके ग्रंथ पढ़ने चाहिए। डार्विनके कथनानुसार मनुष्यों और दूसरे प्राणियोंमें भी जीते रहनेका लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्षमें जीवित रह सकता है वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नहीं है वह जड़मूलसे नष्ट हो जाता है; पर इस संघर्षके मुकाबलेमें हम केवल शरीर-बलसे टिक नहीं सकते।

हम आदमी, भैंस और रीछकी तुलना करें तो मालूम होगा कि शरीर-बलमें रीछ या भैंस आदमीसे बढ़े हुए हैं और आदमी उनमेंसे किसीके साथ कुश्ती लड़े तो हार जायगा; पर यह बात होते हुए भी अपनी बुद्धिकी बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जातिकी जुदा-जुदा कौमोंके बीच कर सकते हैं। युद्धकालमें जिसके पास अधिक बल या अधिक संख्या-वाले आदमी हों वही जीते, ऐसा नहीं होता; बल्कि जिसके पास कला-कौशलका बल और अच्छे नेता होते हैं वह जाति अल्पसंख्यक या शरीर-बलमें कम हो तो भी विजयी होती है। यह दृष्टांत हमने बुद्धिबलका देखा।

डार्विन हमें यह बताता है कि नीतिबल शरीरबल और बुद्धि-बल दोनोंसे बढ़कर है और योग्य मनुष्य अयोग्यसे अधिक टिक सकता है। इस बातकी सच्चाई हम अनेक रूपोंमें देख सकते हैं। कितने ही लोग यह मानते हैं कि डार्विनने तो हमें यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीरबलमें भरपूर है वही अंतमें पार लगता है। और यों ऊपर-ऊपरसे ही विचार करनेवाले लेभग्गू आदमी मान लेते हैं कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विनका

यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दंत-कथाओंसे यह देखा गया है कि जो जातियां अनीतिमान थीं वे आज नामशेष हो गई हैं। सोडम और गमोराके लोग बड़े दुराचारी थे। इससे ये देश मिट गए। आज भी हम देख सकते हैं कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसालें लेकर देखें कि साधारण नीति भी मानव-जातिकी सलामतीके लिए कितनी जरूरी है। शांत स्वभाव नीतिका एक अंग है। उसपरसे देखनेसे ऐसा जान पड़ेगा कि घमंडी मनुष्य आगे बढ़ सकता है; पर थोड़ा विचार करके भी हम देख सकते हैं कि मनुष्यकी गर्वरूपी तलवार अंतमें अपनेही गलेपर गिरती है। मनुष्य नशेका सेवन न करे, यह नीतिका दूसरा विषय है। आंकड़े देखनेसे विलायतमें यह देखनेमें आया है कि तीस बरसकी उम्रवाले शराबी और तेरह या चौदह बरससे अधिक नहीं जीते; पर निर्व्यसन मनुष्य ७० बरसकी आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीतिका तीसरा विषय है। डार्विनने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य बहुत जल्दी नाश को प्राप्त होता है। उसके संतान पहले तो होती ही नही और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्यका मन हीन हो जाता है और ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं उसकी शक्ल पागलकी-सी होती जाती है।

जातियोंकी नीतिका विचार करनेपर भी हमें यही स्थिति दिखाई देगी। अंडमान टापूके पुरुष अपनी स्त्रियोंको, ज्योंही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते हैं। अर्थात् परमार्थ-बुद्धि दिखानेके बदले अत्यन्त स्वार्थ-बुद्धिका परिचय देते हैं। नतीजा यह हुआ कि उस जातिका धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओंमें भी एक हदतक परमार्थ-बुद्धि देखनेमें आती

है। भीरु स्वभाव वाले पक्षी भी अपने बच्चोंकी रक्षा करनेके समय बलवान बन जाते है। वह कहता है कि प्राणिमात्रमें परमार्थबुद्धि थोड़ी बहुत भी न होती तो आज दुनियामें घासपात और जहरीली वनस्पतियोंके सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियोंमें सबसे बड़ा अंतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरोंके लिए अर्थात् अपनी नीतिके प्रमाणमें अपने बच्चोंके लिए, अपने देशके लिए अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीतिसे बताता है कि नीतिबल सर्वोपरि है। ग्रीसकी जनता यूरोपकी आजकी जनतासे अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनताने नीतिका त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज वह जाति देखने में भी नहीं आती। जातियां, प्रजाएं न पैसेसे टिकती हैं न सेनासे। वे एकमात्र नीतिकी नीवपर ही टिक सकती है। अत. मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है कि इस विचारको सदा मनमें रखकर परमार्थरूपी परम नीतिका आचरण करे।

: ७ :

नीति में सार्वजनिक कल्याण

अक्सर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीतिमें सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीशमें अगर न्याय-बुद्धि हो तो जिन लोगोंको उसकी न्यायी अदालतमें जाना पड़े वे सुखी होते हैं। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता आदि गुण दूसरोंसे

साथ होनेपर ही प्रकट किये जा सकते हैं। वफ़ादारीका बल भी हम एक-दूसरेसे संबंध होनेपर ही दिखा सकते हैं। स्वदेशाभिमानके विषयमें तो कहना ही क्या ! वास्तविक स्थितिको देखनेसे यह दिखाई देगा कि नीतिका एक भी विषय ऐसा नहीं है जिसका फल अकेले नीतिका पालन करनेवालेको ही मिलता है। अकसर यह कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणोंका सामनेवाले मनुष्य, विपक्षीके साथ कोई लगाव नहीं होता। पर हम झूठ बोलकर किसीको ठगें तो उससे विपक्षीकी हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी; तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलनेसे उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाजको नापसंद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्यका असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोकमें रहता है और विचारोंकी दुनिया अभी पैदा होनेको है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमीके लिए प्रचलित व्यवहारनीति-विशेषका अनादर करनेके लिए यह खयाल-भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नहीं है। ऐसा आदमी सदा दूसरोंको अपने विचारके अनुसार आचरण करानेके यत्नमें लगा रहेगा। ऐसे ही पैगंबरोंने दुनियाके चक्रोंकी गति फेरी है।

मनुष्य जबतक स्वार्थी है, अर्थात् वह दूसरोंके सुखकी परवा नहीं करता, तबतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गया-बीता है। मनुष्य पशुसे श्रेष्ठ है यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब हम उसे अपने कुटुम्बका बचाव करते देखते हैं। वह उस वक्त मानवजातिमें और ऊंचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जातिको अपना कुटुम्ब मानता है। जब सारी मानव-जातिको

वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपानपर चढ़ता है; अर्थात् मनुष्य मानव-जातिकी सेवामें जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्रीके लिए, अपने बेटेके लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहरके आदमीके लिए मेरे दिलमें दर्द न हो; तो स्पष्ट है कि मुझे मानवजातिके दु:खकी अनुभूति नहीं है; पर स्त्री, बच्चे या कौम, जिसको मैंने अपना मान रखा है, उनके लिए भेदबुद्धि या स्वार्थबुद्धिसे कुछ दर्द होता है।

अत: जबतक हमारे मनमें हरएक मानव-संतानके लिए दया न हो तबतक हमने नीति-धर्मका पालन नहीं किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे हैं कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है; यानी हम सदा उसकी सेवा करते रहें यह हमारा फर्ज है। हमें यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी-के ऊपर नहीं है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करनेवाला आदमी इस दुनियाके रेलेमें पड़कर पिस जायगा। पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठासे सेवा करनेवाले आदमीको खुदाने हमेशा बचा लिया है।

इस नीतिके पैमानेसे मनुष्य-मात्र समान हैं। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरहका काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पद-अधिकार भोगता हूं तो उस पदकी जिम्मेदारी उठानेकी मुझमें शक्ति है। इससे मुझे गर्वसे इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग जो छोटी जिम्मेदारी उठाते हैं मुझसे हेठे हैं। पूर्ण साम्य तो हमारे मनकी स्थितिपर अवलंबित होता है।

जबतक हमारे मनकी यह स्थिति नहीं होती तबतक हम पिछड़े हुए हैं।

इस नियमके अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थके लिए दूसरी जाति या राष्ट्रपर राज्य नहीं कर सकता। अमरीकाकी गोरी जनताका वहांके मूल निवासियोंको दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति-विरुद्ध है। ऊंची शिक्षा-संस्कारवाली जातिका नीची जातिसे साबका पड़े तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठाकर अपने बराबर कर ले। इस नियमके अनुसार राजा प्रजापर हुकूमत करनेवाला नहीं, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगनेके लिए नहीं, बल्कि प्रजाको सुखी करनेके लिए होता है। प्रजातंत्र राज्यमें लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियमके अनुसार एक राज्यमें बसनेवाले या एक कौमके आदमियोंमें जो बलवान हों उनका काम है दुर्बलोंकी रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-व्यवस्थामें भूखों मरनेवाले नहीं हो सकते और न यही हो सकता है कि कुछ लोगोंके पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय; इसलिए कि हम अपने पड़ौसीका दुःख देखते रहें और सुखी रहें, यह हो नहीं सकता। परम नीतिका अनुसरण करनेवाले आदमीसे धन बटोरने-का काम होनेवाला नहीं। ऐसी नीति दुनिया में थोड़ी दिखाई देती है, यह सोचकर नीतिमानको घबराना न चाहिए; क्योंकि वह अपनी नीतिका मालिक है, उसके नतीजेका नहीं। नीतिका आचरण न करनेसे वह दोषी माना जायगा; पर उसका असर जन-समाज पर न हो तो कोई उसको दोष नहीं दे सकता।

: ८ :

समाप्ति

"मैं जिम्मेदार हूं," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्यको हिला देता है और अचंभेमें डाल देता है। गैबी आवाजकी प्रतिध्वनि सदा हमारे कानमें पड़ा करती है—"मानव, यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ-जैसा तू ही है; क्योंकि प्रकृति-ने दो समान वस्तुएं कहीं बनाई ही नहीं। जो फर्ज तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनियाके सालाना चिट्ठेमें घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज जो मुझे अदा करना है, क्या है? कोई कहेगा कि:

आदमको खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं;
लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्यके अनुसार मुझे यह मानकर कि मैं खुदाका नूर हूं, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आस पासके लोगोंके साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मां-बापकी सेवा, बीवी-बच्चों का भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रोंके साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणोंमें मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीतिसे व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्यका अंग है। जबतक मैं अपने-आपको न पहचानूं तबतक दूसरेको कैसे पहचान सकूंगा! और जबतक पहचानूंगा नहीं तबतक उनका सम्मान कैसे कर सकूंगा! बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि जिन बातोंका दूसरोंसे संबंध होता हो उनमें तो हमें कायदेसे व्यवहार करना चाहिए; पर जबतक हमारे

कामोंका दूसरोंसे संबंध न हो तबतक हम अपनी मर्जीके मुताबिक, जैसे चाहें वैसे, व्यवहार कर सकते हैं। जो आदमी ऐसा मानता हो, वह बिना समझे बोलता है। दुनियामें रहकर कोई भी आदमी बिना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वच्छन्द होकर व्यवहार नहीं कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है। अव्वल तो हमारे एकांतके आचरणकी खबर हमारे सिवा दूसरोंको होती नहीं; ऐसे आचरणका असर दूसरोंपर होता है इसलिए हम जिम्मेदार होते हैं, इतना ही सोचना काफी नहीं है। उसका असर दूसरोंपर होता है, इसलिए भी हम उसके जवाबदेह हैं। हर आदमीको चाहिए कि अपने उत्साहको काबूमें रखे। एक महान् पुरुषका कहना है कि किसी भी आदमीका खानगी चाल-चलन मुझको बता दो, मैं तुरंत बता सकता हूं कि वह आदमी कैसा होगा और है। ऐसे ही कारणोंसे हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओंको लगाम देकर रखें। यानी हमें शराब नहीं पीना चाहिए, पेटूकी तरह ठूंस-ठूंसकर नहीं खाना चाहिए, नहीं तो अंतमें शक्ति-हीन होकर हमें अपनी आबरू गंवानी होगी। जो आदमी विषय-मार्ग से दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राणकी रखवाली नहीं करता वह बाहरके कार्योंमें सफलता नहीं पा सकता।

यों विचार करते हुए मनुष्य अपनी अंतर्वृत्तियोंको स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियोंका क्या उपयोग करूं। जीवनमें कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। हम जीवनके कर्त्तव्योंकी खोज करके उनके पालनकी ओर मनका झुकाव न रखें तो हम बिना पतवारकी नावकी तरह भरे दरियामें डूबते-उतराते रहेंगे। हमारा ऊंचे-से-ऊंचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानव-जातिकी सेवा

करें और उसकी स्थिति सुधारनेके यत्नमें योग दें। इसमें सच्ची ईश्वर-स्तुति, सच्ची बंदगी आ जाती है। जो आदमी भगवानका काम करता है वह भगवानका जन है, खुदाका बंदा है। खुदाका नाम लेनेवाले ढोंगी-धूर्त बहुतेरे दुनियामें विचरा करते हैं। तोता राम-राम कहना भी सीख लेता है इससे उसे कोई रामका भक्त, सेवक नहीं कहता। मनुष्यजातिको यथायोग्य स्थिति प्राप्त कराने-का उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्यसे वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रतका पालन करता है वह कभी नीतिधर्मसे डिगता नहीं। उससे विचलित होकर मानव-जातिको ऊपर उठानेका उद्देश्य पूरा किया ही नहीं जा सकता।

अब हम व्यौरेवार विचार करें। हमें सदा यह देखते रहना पड़ता है कि हमारा आचरण सुधारकी ओर जा रहा है या बिगाड़-की ओर। बनिज-व्यापार करनेवाला हरएक सौदा करते हुए इस बातका विचार करेगा कि मैं अपने-आपको या दूसरेको ठग तो नहीं रहा हूं। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीतिका अनुसरण करते हुए मवक्किल और रोगीके हिताहितको अधिक सोचेगा। मां बच्चेका पालन करते हुए सदा यह डर मनमें रखकर चलेगी कि कहीं झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थसे वह बिगड़ न जाय। ऐसा विचार रखकर मजदूरी करनेवाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्यका खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचनका निचोड़ यह निकला कि मजदूर अगर नीति-नियमका पालन करते हुए अपने कर्त्तव्यका पालन करे तो वह अपने आचार-व्यवहारमें अपने आप-को खुदमुख्तार माननेवाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकील से श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील

आदि अधिक बुद्धि या अधिक पैसेवाले होते हुए भी खोटे सिक्के-जैसे हैं। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे हैं कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभानेमें समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थितिमें क्यों न हो। मनुष्यका मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलनपर आश्रित होता है, उसके पद-दरजेपर नहीं। उसके चरित्रकी परख उसके बाहरके कामोंसे नहीं होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जानकर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीबको अपनी नजरसे दूर करनेके लिए एक डालर देता है; दूसरा उसपर तरस खाकर, स्नेहसे आधा डालर देता है। इनमें आधा डालर देनेवाला नीतिमान है और पूरा डालर देनेवाला पापी है।

इस सारे विवेचनका सार यह निकला कि जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसीसे द्वेष नहीं करता, किसीसे नाजायज फायदा नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसेवाला है। मानवजातिकी सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दियासलाईमें आग न हो तो दूसरी लकड़ीको कैसे सुलगायेगी! जो आदमी खुद नीतिका पालन नहीं करता वह दूसरेको क्या सिखायेगा! जो खुद डूब रहा हो वह दूसरे-को कैसे पार उतारेगा! नीतिका आचरण करनेवाला; दुनियाकी सेवा किस तरह करनी होगी यह सवाल कभी उठाता ही नहीं; क्योंकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नहीं होता। मैथ्यू आरनाल्ड कहता है, "एक वक्त था जब मैं अपने मित्रके लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मैं वैसी कामना नहीं करता। इसलिए कि मेरे मित्रका सुख-दुःख उनके होने न होनेपर अवलंबित नहीं। इससे अब मैं सदा यही मानता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे।" इमर्सन कहता है कि "भले आदमीका दुःख भी उसका

सुख है और बुरेका तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनियाके लिए दुःखरूप है।"

ऊपरके विषयसे मेल खानेवाली कविता :

गर पादशाह[१] होकर अमल[२] मुल्कों हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिनका नरसिंगा बजा, भों भों हुआ तो क्या हुआ ?
ग़ुलशोर मुल्क व माल[३]का कोसों हुआ तो क्या ?
या हो फ़क़ीर आज़ादके रंगों हुआ तो क्या हुआ ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (१)
दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,
बैठा अगर होदे उपर[४] या पालकीमें जा चढ़ा,
आगे नक्कारा और निशां, पीछेको खोजोंका परा[५];
देखा तो फिर इक आनमें हाथी न घोड़ा न गधा।
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (२)
अब देख किसको शाद[६] हो और किस पै आँखें नम करे ?
यह दिल बिचारा एक है, किस किसका अब मातम करे ?
या दिलको रोवे बैठकर, या दर्द दुःखमें कम करे ?
यांका यही तूफान है अब किसकी जूती ग़म करे ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (३)
गर तू 'नज़ीर' अब मर्द है तो जालमें भी शाद हो;
दस्तार[७]में भी हो खुशी, रूमालमें भी शाद हो;
आजादगी भी देख ले, जंजालमें भी शाद हो;
इस हालमें भी शाद हो और उस हालमें भी शाद हो;
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूं हुआ तो क्या हुआ ? (४)

—नज़ीर

---

[१]बादशाह [२]हुकूमत [३]देश और धन [४]ऊपर
[५]बेगमों की पालकियोंकी रक्षाके लिए हिजड़े सिपाहियों की क़तार
[६]प्रसन्न, खुश [७]पगड़ी

स र्वो द य

[रस्किनके 'अन्टु दिस लास्ट' का सार]

प्रस्तावना

पश्चिमके देशोंमें साधारणतः यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगोंका सुख, उनका अभ्युदय, बढ़ाना मनुष्यका कर्त्तव्य है। सुखका अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसेका सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करनेमें नीतिके नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवा नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगोंको सुख देनेका उद्देश्य रखनेके कारण पश्चिमके लोग थोड़ोंको दुःख पहुंचाकरभी बहुतोंको सुख दिलानेमें कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिमके सभी देशोंमें देख रहे हैं।

किंतु पश्चिमके कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्योंके शारीरिक और आर्थिक सुखके लिए यत्न करना ही ईश्वरका नियम नही है; और केवल इतनेहीके लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमोंका भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियमके विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगोंमें विद्वान् अंग्रेज स्वर्गीय जॉन रस्किन मुख्य थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयोंपर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं। नीतिके विषयोंपर भी उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। उसमेंसे एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहा-जहां अंग्रेजी बोली जाती है, वहां-वहां इस पुस्तकका बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताये विचारोंका जोरोसे खंडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमोंके पालनमें ही मनुष्य-जातिका कल्याण है।

आजकल भारतमें हम पश्चिमवालोंकी बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातोंमें हम इसकी जरूरत भी समझते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिमकी बहुत-सी रीतियां खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब हैं उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयोंकी अवस्था बहुत ही करुणाजनक है।

हम धनके लिए विदेश जाते है। उसकी धुनमें नीतिको, ईश्वरको भूल जाते है। स्वार्थमे सन जाते है। इसका नतीजा यह होना है कि हमें विदेशमे रहनेसे लाभके वदले उलटे बहुत हानि होती है, अथवा विदेश-यात्राका पूरा-पूरा लाभ नही मिलता। सभी धर्मोमें नीतिका अंश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धिसे देखा जाय तो भी नीतिका पालन आवश्यक है। जॉन रस्किनने सिद्ध किया है कि सुख इसीमें है। उन्होने पश्चिम-वालोंकी आखे खोल दी है और आज यूरोप और अमरीकाके भी कितने ही लोग उनकी शिक्षाके अनुसार चलते है। भारतीय जनता भी उनके विचारोंसे लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तकका इस ढंगसे सारांश देनेका विचार किया है कि जिससे अंग्रेजी न जाननेवाले भी उसे समझ ले।

सुकरातने, मनुष्यको क्या करना उचित है, इसे संक्षेपमे समझाया है। कह सकते है कि उसने जो कुछ कहा है, रस्किनने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किनके विचार सुकरातके ही विचारों का विस्तृत रूप है। सुकरातके विचारोंके अनुसार चलनेकी इच्छा रखनेवालोंको भिन्न-भिन्न व्यवसायोंमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, रस्किनने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तकका सार दे रहे है, उल्था नही कर रहे है। उल्था कर देनेसे संभव है कि बाइबिल आदि ग्रंथोंके कितने ही दृष्टांत पाठक न समझ पाएं। हमने पुस्तकके नामका भी उल्था नही किया है; क्योकि उसका मतलब भी वही पा सकते है जिन्होंने अंग्रेजीमें बाइबिल पढ़ी है; परन्तु उसके लिखे जानेका उद्देश्य सबका कल्याण सबका (केवल अधिकांशका नही) उदय, उत्कर्ष होनेके कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

—मो० क० गांधी

स र्वो द य

: १ :

सचाईकी जड़

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्योंकी पारस्परिक भावना---स्नेह-सहानुभूतिके प्रभावका विचार किये बिना उन्हें एक प्रकारकी मशीन मानकर उनके व्यवहारके गढ़नेसे बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जा-जनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलोंमें ऊपर-ऊपरसे देखनेसे कुछ सचाईका आभास दिखाई देता है, वैसे ही लौकिक नियमोंके विषयमें भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनानेवाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकारकी भावना मनुष्यकी साधारण प्रकृतिकी गतिमें बाधा पहुंचानेवाली मानी जानी चाहिए; परंतु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा सदा बनी रहनेवाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तुसे दूर रखकर मनुष्यको पैसा बटोरनेकी मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकारके श्रम और किस तरहके लेन-देनके रोजगारसे आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरहके विचारोंके आधारपर व्यवहारकी नीति निश्चित कर लेनेके बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाय।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका जोर लेन-देनके नियम-जैसा ही होता तो ऊपरकी दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्यकी भावना उसके अंदरका बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्गके नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओर से स्थायी शक्ति लग रही हो और दूसरी ओरसे आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्तिका अंदाजा लगायंगे, बादको आकस्मिकका। दोनोंका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गतिका निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियां एक प्रकारकी हैं; परंतु मानव-व्यवहारमें लेन-देनके स्थायी नियमकी शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकारकी हैं। भावनाका असर दूसरे ही प्रकारका, दूसरी ही तरहसे पड़ता है, जिससे मनुष्यका रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तुविशेषकी गतिपर पड़नेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियोंके असरका हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़-बाकीके नियमसे लगाते हैं उस तरह भावनाके प्रभावका हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्यकी भावनाके प्रभावकी जांच-पड़ताल करनेमें लेन-देन, खरीद-बिक्री या मांग और उत्पत्ति के नियमका ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्रके नियम गलत हैं, यह कहनेका कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्यके शरीरमें केवल मांस ही है, अस्थि-पंजर नहीं है और फिर नियम बनाये तो उसके नियम ठीक भले ही हों, पर वे अस्थि-पंजरवाले मनुष्यके लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्रके नियम ठीक होनेपर भी भावनासे बंधे हुए मनुष्यके लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई

कसरतबाज कहे कि मनुष्यका मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींचकर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस मांसमें पुनः अस्थि-पंजर घुसा देनेमें क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे; क्योंकि अस्थि-पंजरसे मांसको अलगकर व्यायामके नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्यकी भावनाकी उपेक्षा करके लौकिक शास्त्रके नियम बनाये जायं तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहारके नियमोंके रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षकके ही ढंगपर चलते हैं। उनके हिसाबसे मनुष्य, उसका शरीर, केवल कल है और इसी धारणाके अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव है, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकारके नियम मनुष्यपर, जिसमें जीव-आत्मा, रूहकी प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-जब हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार है। उस वक्त मालिक कुछ और सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देनका एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखानेके लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनोंका स्वार्थ एक ही ओर होता है, परंतु इस समयमें वे कुछ नहीं समझते। सच तो यह है कि एक-दूसरेका सांसारिक स्वार्थ——पैसेका——एक न होनेपर भी एक-दूसरेका विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घरमें रोटीके लाले पड़े हैं। घरमें माता और उसके बच्चे हैं। सबको भूख लगी है। खानेमें दोनोंके——माता और बच्चेके——स्वार्थ परस्परविरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भूखों मरते हैं और बच्चे खाते हैं तो मां भूखी रह जाती है। फिर भी

माता और बच्चोंमें कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटीके टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। यही बात मनुष्यके परस्परके संबंधके विषयमें भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देरके लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशुमें कोई अंतर नही है, हमें पशुओंकी तरह अपने-अपने स्वार्थके लिए लड़ना ही चाहिए; तब भी यह बात नियमरूपमें नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकरके बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्थाके अनुसार इस भावमें परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलनेमें तो दोनोंका स्वार्थ है, परंतु नफेके बंटवारेकी दृष्टिसे देखनेपर यह हो सकता है कि जहां एकका लाभ हो वहां दूसरेकी हानि हो। नौकरको इतनी कम तनखाह देनेमें कि वह सुस्त और निरुत्साह रहे, मालिकका स्वार्थ नही सधता। इसी तरह कारखाना भलीभांति न चल सकता हो तो भी ऊंची तनखाह मांगना नौकरके स्वार्थका साधक नही है। जब मालिकके पास अपनी मशीनकी मरम्मत करानेको भी पैसे न हों तब नौकरका ऊंची तनखाह मांगना स्पष्टतः अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते है कि लेन-देनके नियमके आधारपर किसी शास्त्रकी रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धनकी घटती-बढ़तीके नियमपर मनुष्यका व्यवहार नही चलना चाहिए। उसका आधार न्यायका नियम है, इसलिए मनुष्यको समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेनेका विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकारसे आचरण करनेपर अंतमें क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नही बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्याय-

विरुद्ध, यह तो हम प्रायः सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सक्ते हैं कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्यायके नियममें पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिका समावेश हो जाता है और इसी भावनापर मालिक-नौकरका संबंध अवलंबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरोंसे अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें ज़रा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियोंमें रखता है। सार यह कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीरमें रख सकें। कुछ लोग कह सकते है कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकरने निश्चित तनखाहमें अपना सारा समय मालिकको दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकोंको देखकर निश्चित करता है। नौकरको अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेनेकी उसे स्वतंत्रता है। इसीको लेन-देनका नियम बनानेवाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाममें अधिक-से-अधिक काम लेनेमें मालिकको लाभ होता है और अंतमें इससे नौकरको भी लाभ ही होता है।

विचार करनेपर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलानेके लिए किसी विशेष प्रकारकी ही शक्तिकी आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परंतु यहां तो नौकरको संचालित करनेवाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्माका बल तो अर्थशास्त्रियोंके सारे नियमोंपर हड़ताल फेर देता है—उन्हें गलत बना देता है। मनुष्य-रूपी मशीनमें धनरूपी कोयला झोंककर अधिक-से-अधिक काम

नहीं लिया जा सकता । वह अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाय। नौकर और मालिकके बीच धनका नहीं, प्रीतिका बंधन होना चाहिए ।

प्राय: देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबावके कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर-का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान चतुर नौकर भी लिये जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूतिवाले मालिकका नौकर सहानुभूतिरहित मालिकके नौकरकी अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं; क्योंकि स्नेह और कृपाका बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है; पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह-के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्तीकी जाय तो वह मालिकसे द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिकके साथ जो नौकर बद-दयानती करता है वह अन्यायी मालिकका नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमीके साथ परोपकारकी दृष्टि रखनेसे परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूतिको एक प्रकारकी शक्ति मानकर ही उसपर विचार कर रहे हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदी बात है और यहां हम उसपर विचार नहीं कर रहे हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्रके साधारण नियमोंको, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेह—सहानुभूति—रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यहीं नहीं, यह एक भिन्न प्रकारकी

शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्रके अन्यान्य नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमोंको उठाकर अलग रख देनेपर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटेकी तौलका हिसाब रक्खे और बदला मिलनेकी आशासे ही स्नेह दिखाये तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह स्नेहके लिए ही दिखाया जाना चाहिए; बदला तो बिना मांगे अपने-आपही मिल जाता है। कहते है, जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायकका उदाहरण लीजिये। जो सेनानायक अर्थशास्त्रके नियमों का प्रयोग कर अपनी सेनाके सिपाहियोंसे काम लेना चाहेगा, वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेनाका सरदार अपने सिपाहियोंसे घनिष्ठता रखता है, उनके प्रति स्नेहका व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दु खमें शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहां सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे, वहां युद्धमें कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकोंके बीच स्नेह-सहानुभूतिका बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरोंके दलोंमें भी पाई जाती है। डाकुओंका दल भी अपने सरदारके प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानोंके मालिकों और मजदूरोंमें हमें इस तरहकी घनिष्ठता नहीं दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरहके कारखानोंमें मजदूरोंकी तनखाहका आधार लेन-देनके, मांग और प्राप्तिके नियमोंपर रहता

है, इसलिए मालिक और मजदूरोंके बीच प्रीतिके बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूतिकी जगह उनके सबंधमें विरोध, प्रतिद्वन्द्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्थामें हमें दो प्रश्नोंपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांगका और प्राप्तिका विचार किये बिना नौकरोंकी तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है ?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारोंमें मालिक-नौकरोंका या सेनापति और सिपाहियोंका स्थायी संबंध होता है, उसी तरह कारखानोंमें बराबर कैसा ही समय आनेपर भी नौकरोंकी नियत संख्या, कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्नपर विचार करें। आश्चर्यकी बात है कि अर्थ-शास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखानेके मजदूरोंकी तनखाहकी एक दर निश्चित हो जाय। फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैडके प्रधानमंत्रीका पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो, उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप) के पदपर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलोंके साथ भी साधारणतः इस तरहका संबंध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते है कि उक्त उदाहरणमें हम बंधी उजरत ही देते हैं। इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूरकी उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तवमें होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलोंकी फीस एक ही होनेसे अच्छे वकील-डाक्टरोंके ही पास जाते हैं, उसी तरह

सब मजदूरोंकी मजदूरी एक ही होनेपर हम लोग अच्छे राज और बढ़ईसे ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगरका इनाम यही है कि वह कामके लिए पसंद किया जाय। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतनकी दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिकको धोखा दे सकता है वहां अंतमें बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्नपर विचार करें। वह यह है कि व्यापारकी चाहे जैसी अवस्था हो, कारखानेमें जितने आदमियोंको आरंभमें रक्खा हो उतनेको सदा रखना ही चाहिए? जब कर्मचारियोंको अनिश्चित रूपसे काम मिलता है तब उन्हें ऊंची तनखाह मांगनी ही पड़ती है; किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाहमें काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियोंको स्थायी रूपसे नौकर रखता है उसे अंतमें लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते है उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानोंमें ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। सिपाही सेनापतिकी खातिर मरनेको तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरीके पेशेसे ज्यादा इज्जतकी चीज मानी गई है। सच पूछिये तो सिपाहीका काम कत्ल करनेका नहीं; बल्कि दूसरोंकी रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जानेका है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्यको सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरीके संबंधमें भी मानते हैं, इसलिए उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। वकीलको अपने प्राण निकलनेतक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक संकट सहकर भी अपने रोगीका उपचार

करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशकको चाहिए कि उसपर कुछ भी क्यों न बीते, पर अपने समुदायवालोंको ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशोंमें ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता ? आखिर व्यापारके साथ अनीतिका नित्यका संबंध मान लेनेका क्या कारण है ? विचार करनेसे दिखाई देता है कि व्यापारी सदाके लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी-का काम भी जनताके लिए जरूरी है; पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टिसे बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटेके साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहांतक हो सके, अधिक मांगे और ले। लोगोंने खुद ही व्यापारमें ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानीके कारण नीची निगाहसे देखते हैं। इस प्रथाको बदलनेकी जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारीको अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना चाहिए। इस तरहके व्यापारको हम व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्यके सुखके लिए जान देता है, उसी तरह व्यापारीको जनताके सुख के लिए धन गंवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिएँ। सभी राज्योंमें—

सिपाहीका पेशा जनताकी रक्षा करना है;
धर्मोपदेशकका, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सकका, उसे स्वस्थ रखना है;
वकीलका उसमें न्यायका प्रचार करना है; और
व्यापारीका उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगोंका कर्त्तव्य समय आनेपर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्—

पैर पीछे हटानेके बदले सिपाहीको अपनी जगहपर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेगके समय भाग जानेके बदले चाहे खुद प्लेगका शिकार हो जाए तो भी चिकित्सकको वहां मौजूद रहकर रोगियोंका इलाज करते रहना चाहिए।

सत्यकी शिक्षा देनेमें लोग मार डालें तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशकको झूठके बदले सत्यहीकी शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्यायके लिए मरना पड़े तब भी वकीलको इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालोंके लिए मरनेका उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगोंके लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समयपर मरनेको तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं,यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी-का काम जनताके लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशकका काम तनखाह लेना नहीं, बल्कि उपदेश देना है; उसी तरह व्यापारी का नफा कमाना नहीं, बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देनेवालेको रोटी और व्यापारीको नफा तो मिल ही जाते हैं; पर दोनोंमेंसे एकका भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले, फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए; क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनताका लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काममें जो

सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों, उनकी रक्षा और बीमार होनेपर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करनेके लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरोंकी तरह व्यापारीके लिए भी जान दे देनेका अवसर आये तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी, चाहे उसपर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाए, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगोंको धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करनेवालोंके साथ अत्यंत स्नेह-का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारोंमें जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमेंसे कितनोंको अक्सर घर बार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिकको ही उनके मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषयमें लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बापके हो जाते हैं। इसलिए पद-पदपर व्यापारी या मालिकको अपने-आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि "मैं जिस तरह अपने लड़कोंको रखता हूं, वैसा ही बरताव नौकरोंके साथ भी करता हूं या नहीं?"

जहाजके कप्तानके नीचे जो खलासी होते है उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारीके यहां अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काजके बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़केके साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरोंके साथ भी उसे करना होगा। इसीको सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाजके खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाजसे उतरे, उसी तरह अकाल-इत्यादि संकटों में व्यापारी का

कर्त्तव्य है कि अपने आदमियोंकी रक्षा अपनेसे पहले करे। इस प्रकारके विचार, संभव है कुछ लोगोंको विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमानेकी विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते है कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाजको ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकारकी नीति कदापि नहीं चल सकती। अंग्रेज जाति आजतक कायम है तो इसका कारण यह नही है कि उसने अर्थशास्त्रके नियमोंका अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़ेसे लोगोंने उन नियमोंका भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमोंका पालन किया है। इसीसे यह नीति अबतक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमोंका भंग करनेसे कैसी हानियां होती है और किस तरह समाजको पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाईके मूलके संबंधमें पहले ही कह चुके है। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है--"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूतिसे कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरहके लाभका हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्रकी विवेचना करते हैं, वह केवल इसी बातका विचार करता है कि मालदार बननेका क्या उपाय है। यह शास्त्र गलत नही है; बल्कि अनुभवसे इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्रके अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं; और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते है। यूरोपके सभी धनिकोंने इसी शास्त्रके अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलीलें उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी

व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं; पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्रका कुछ भला हुआ है या नहीं। 'धनवान' शब्दका अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बातको नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे, वहां गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूलसे यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियमके अनुसार चलनेसे सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिये तो यह मामला कुएंके रहंट-जैसा है। एकके खाली होनेपर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है, उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पासवाले आदमीको आपके रुपयेकी गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपयेकी शक्ति इस बातपर अवलंबित है कि आपके पड़ोसीको रुपयेकी कितनी तंगी है। जहां गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमीको धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियोंको गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्रका अर्थ है, ठीक समयपर ठीक स्थानमें आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समयपर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ीका काम ठीक तौरसे करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्रकी संपत्ति बढ़ानेवाले हैं। जो शास्त्र

इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरोंको उसकी तंगीमें रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाले यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरहके कितने रुपये मिलेंगे, अपनेको उतना ही पैसे वाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयोंका मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातुका, रुपयोंका संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमीके पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी-को नौकरोंकी जरूरत होगी; परंतु यदि उसके पड़ोसियोंसे किसीको सोना-चांदी या अन्नकी जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अतः उस मालदारको खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशामें उसके लिए उसके सोनेका मूल्य उसके खेतके पीले कंकड़ोंसे अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जायगा; क्योंकि वह अपने पड़ोसीसे ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरोंकी तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्थामें अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसंद न करेंगे। गहराईसे सोचनेपर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करनेका अर्थ दूसरे आदमियोंपर अधिकार प्राप्त करना—अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनतपर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियोंकी गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाबसे मिल सकेगा। यदि एक बढ़ईसे काम लेनेकी इच्छा रखनेवाला एकही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी

मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी वहां जायगा। निचोड़ यह निकला कि धनवान होनेका अर्थ जितने अधिक आदमियोंको हो सके उतनोंको अपनेसे ज्यादा गरीबीमें रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगोंको तंगीमें रखनेसे राष्ट्रका लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो नहीं सकता; परंतु, अनुचित रूपसे लोगोंमें गरीबी पैदा करनेसे जनता दुःखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूपसे हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

: २ :

दौलतकी नसें

इस प्रकार किसी विशेष राष्ट्रमें रुपये-पैसेका चक्कर शरीरमें रक्त-संचारके समान है। तेजीके साथ रक्तका संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायामका सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वरका। शरीरपर एक प्रकारकी लाली स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकारकी रक्तपित्त रोगका चिह्न है। फिर, एक स्थानमें खूनका जमा हो जाना जिस तरह शरीरको हानि पहुंचाता है, उसी तरह एक स्थानमें धनका संचित होना भी राष्ट्रकी हानिका कारण हो जाता है।

मान लीजिये कि जहाजके टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जानेसे दो खलासी एक निर्जन किनारेपर आ पड़े हैं। वहां उन्हें खुद

मेहनत करके अपने लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करन पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एकसाथ काम करते रहें तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयारकर खेती कर सकते हैं और भविष्यके लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते हैं; और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनोंका हिस्सा बराबर माना जायगा। इस तरह इनपर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हें अपने परिश्रमका फल बांटनेका अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद इनमेंसे एक आदमीको असंतोष हुआ, इसलिए उन्होंने खेत बांट लिये और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर, मान लीजिये कि कभी ऐन मौकेपर एक आदमी बीमार पड़ गया। ऐसी दशामें वह स्वभावतः दूसरेको मददके लिए बुलाएगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मैं तुम्हारा इतना काम करनेको तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पड़े तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह लिख देना होगा कि तुम्हारे खेतमें मैं जितने घंटे काम करूंगा उतने ही घंटे, जरूरत पड़नेपर, तुम मेरे खेतमें काम कर दोगे। यह भी मान लीजिये कि बीमारकी बीमारी लंबी चली और हर बार उसे उस आदमीको इसी तरहका इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनोंकी स्थिति क्या होगी? हम देखेंगे कि दोनों ही पहलेसे गरीब हो गए हैं; क्योंकि बीमार आदमी जबतक खाटपर पड़ा रहा तबतक उसे अपने कामका लाभ नहीं मिला। यदि हम मान लें कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमारके खेतमें लगाया, उतना

अपने खेतमें लगानेसे उसे वंचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनोंकी मिलकर होनी चाहिए थी, उसमें कमी हो गई।

इतना ही नहीं, दोनोंका संबंध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमीका कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देनेके बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिये कि उस चंगे आदमीने बीमार आदमीसे लिखाये हुए इकरारनामेका उपयोग करनेका निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूपसे विश्राम ले सकता है—आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारीसे उठे हुए आदमी-से दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आये तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्यमें दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्टसे निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरणसे पाठक देख सकेंगे कि दूसरे-से काम लेनेके हकका फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियोंने मिलकर एक राज्यकी स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेकने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबके काम आ सके। मान लीजिये कि इनमेंसे एक आदमी सबका समय बचानेके लिए एकका माल दूसरेके पास पहुंचानेका जिम्मा ले लेता है और इसके बदलेमें अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौरसे माल लाये व ले जाये तो सबको लाभ होगा। पर मान लीजिये।

कि यह आदमी माल ले जानेमें चोरी करता है और बादको सख्त जरूरतके समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानोंको भिखारी बना देता है और अंतमें अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपरके दृष्टांतमें स्पष्ट अन्याय है; पर आजके व्यापारियों-का यही हाल है। हम यह भी देख सकेंगे कि इस चोरीकी कार्र-वाईके बाद तीनों आदमियोंकी संपत्ति इकट्ठी करनेपर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमीके ईमानदार बने रहनेपर होती। दोनों किसानोंका काम कम हुआ। आवश्यक चीजें न मिलनेसे अपने परिश्रमका पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरीका जो माल लगा, उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नहीं हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणितका-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर राष्ट्र-विशेषकी संपत्तिकी जांच कर सकते हैं। उस संपत्तिकी प्राप्तिके साधनोंपर उसे धनवान मानने या न माननेका आधार है। किसी राष्ट्रके पास इतने पैसे हैं, इसलिए वह इतना धनवान है यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमीके पास धनका होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलताका लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेबका सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है। दूसरा ऐसा होता है कि एक आदमीके हाथमें आते हुए दस गुने धनका नाश कर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीतिका विचार किये बिना धन बटोरनेके नियम बनाना केवल मनुष्यको घमंड दिखानेवाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचनेके नियम-के समान लज्जाजनक बात मनुष्यके लिए दूसरी नहीं है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगनेपर लकड़ियां जल जानेसे जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है; भूकंपके कारण धराशायी हो जानेवाले मकानोंकी ईंटें सस्ती हो सकती हैं; किंतु इससे कोई यह कहनेका साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंपकी दुर्घटनाएं जनता-के लाभके लिए हुई थीं। इसी तरह 'महंगा-से-महंगा बेचना' भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे ? आज आपको रोटीके अच्छे दाम मिले। पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्यकी अंतिम कौड़ियां लेकर खड़े किये हैं ? या आपने वे रोटियां किसी ऐसे महाजनको दी हैं जो कल आपका सर्वस्व हड़प लेगा ? या किसी ऐसे सिपाहीको दीं, जो आपके बैंकपर धावा बोलनेवाला है ? संभव है कि इनमेंसे एक भी प्रश्नका उत्तर आप अभी न दे सकें, क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है; पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्यपर, नीतिपूर्वक बेची है या नहीं, यह आप बतला सकते हैं। ठीक न्याय होनेकी ही चिंता रखना आवश्यक भी है। आपके कामसे किसी को दु:ख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धनका मूल्य उसके द्वारा लोगोंका परिश्रम प्राप्त करनेपर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्तमें मिल सके तो पैसे-की जरूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगोंकी मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते हैं; और इसके उदाहरण तो हम

पहले ही देख चुके हैं कि धन-बलसे नीति-बल अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां धन काम नहीं देता, वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैंडमें अनेक स्थानोंमें लोग धनसे भुलावेमें नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान लें कि आदमियोंसे काम लेनेकी शक्ति ही धन है, तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण-में चतुर और नीतिमान होंगे, उसी परिमाणमें दौलत बढ़ेगी। इस तरह विचार करनेपर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चांदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धनकी खोज धरती-के भीतर नहीं, मनुष्यके हृदयमें ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्रका सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगोंको तन, मन और मानसे स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैंड गोलकुंडेके हीरोंसे गुलामोंको सजाकर अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके बदले, यूनानके एक सुप्रसिद्ध मनुष्यके कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषोंको दिखाकर कहे कि—

"यह मेरा धन है !"

: ३ :

अदल इंसाफ

इसवी सन्की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी हो गया है। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाये थे। उसकी कहावतोंका आज भी यूरोपमें प्रचार

है। वेनिसके लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की। उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परंतु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौतकी निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हरामकी दौलतसे कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौतसे बचाता है।" इन दोनों कहावतोंमें सोलोमनने बतलाया है कि अन्यायसे पैदा किये हुए धनका परिणाम मृत्यु है। इस जमानेमें इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणतः हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते। जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने मालपर लोगोंको भुलावेमें डालनेवाले लेबिल लगाना, आदि-आदि।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ानेके लिए गरीबोंको दुःख देता है वह अंतमें दर-दर भीख मांगेगा। इसके बाद कहता है, "गरीबोंको न सताओ; क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापारमें दुःखियोंपर जुल्म न करो; क्योंकि जो गरीबको सतायेगा खुदा उसे सतायेगा।" लेकिन आजकल तो व्यापारमें मरे हुए आदमीको ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकटमें पड़ जाता है तो हम उसके संकटसे लाभ उठानेको तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदारके यहां डाका डालते हैं; परंतु व्यापारमें तो गरीबोंको ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं। खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हें ज्ञान देता है।" अमीरका गरीबके बिना और गरीबका अमीरके बिना काम नहीं चलता। एकसे दूसरेका काम सदा ही पड़ता रहता है,

इसलिए कोई किसीको ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता। परंतु अब ये दोनों अपनी समानताको भूल जाते हैं और जब उन्हें इस बातका होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देनेवाला है, तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदीके समान है। नदी सदा समुद्रकी ओर अर्थात् नीचेकी ओर बहती है। इसी तरह धनको भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परंतु जैसे नदीकी गति बदल सकती है, वैसे ही धनकी गतिमें भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आसपास बहुत-सा पानी जमा हो जानेसे जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियोंमें बांध बांधकर, जिधर आवश्यकता हो, उधर उनका पानी ले जानेसे वही पानी जमीनको उपजाऊ और आस-पासकी वायुको उत्तम बनाता है। इसी तरह धनका मनमाना व्यवहार होनेसे बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह कि वह धन विष-तुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धनकी गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बांधी हुई नदीकी तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धनकी गतिके नियंत्रणके नियमको एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करनेका शास्त्र है; परंतु धन तो अनेक प्रकारसे प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोपमें धनिकको विष देकर लोग उसके धनसे स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगोंके लिए जो खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। जैसे दूधमें सुहागा, आटेमें आलू, कहवेमें 'चीकरी', मक्खनमें चरबी इत्यादि। यह भी विष देकर धनवान होनेके

समान ही है। क्या इसे हम धनवान होनेकी कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परंतु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूटसे ही धनी होनेकी बात कहते हैं। उनकी ओरसे यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून-संगत और न्याय-युक्त उपायोंसे धनवान होनेका है। पर इस जमानेमें यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्याय-बुद्धिसे विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्यायसे ही पैसा कमानेकी बात ठीक हो तो न्याय-अन्यायका विवेक उत्पन्न करना मनुष्यका पहला काम होना चाहिए। केवल लेन-देनके व्यावसायिक नियम-से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेड़िये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछलीको खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओंको खा जाता है और भेड़िया आदमीतकको खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परतु ईश्वरने मनुष्यको समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरोंको भक्षणकर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्थामें अब हमें देखना है कि मजदूरोंको मजदूरी देनेका न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूरका उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो, उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनतका कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमीको एक मजदूरकी आवश्यकता है, पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी मांगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियोंको मजदूरीकी आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंहमांगी उजरत मिल जाएगी; और यह प्रायः जितनी होनी चाहिए उससे अधिक ही होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जायगी। .

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधिके बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमीको ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमीको उतना ही नहीं, बल्कि ब्याजके तौरपर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या इससे अधिक काम कर देनेका वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूरके विषयमें समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आयें और उनमेंसे जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं, तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं, तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा; फिर भी जिसे मैं काम-में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपयेका उचित उपयोग किया। सच पूछिये तो लोगोंके भूखों मरनेकी स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरोंको कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थका धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलासमें रुपया खर्च न

करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरोंको उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखनेके बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जायगा और जिस राष्ट्रमें इस प्रकारकी न्याय-बुद्धि होगी, वह सुखी होगा और उचित रूपसे फूलेगा-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है, त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तवमें यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धाका उद्देश्य है मजदूरीकी दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अंतमें राष्ट्रका नाश होनेकी संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमीको उसकी योग्यताके अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धाके फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे; क्योंकि फिर काम पानेके लिए अपनी दर घटानेकी जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसीलिए लोग सरकारी नौकरी पानेके लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जेके अनुसार तनखाह स्थिर होती है। प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलतामें रहती है। नौकरीके लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेनेकी बात नहीं कहता; किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरोंकी अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेनाकी नौकरियोंमें भी इसी नियमका पालन किया जाता है और इसीलिए प्रायः ऐसे विभागोंमें गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों-में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखे-

बाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं; मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूं; और ग्राहक चाहता है कि मैं बीचसे कमा लूं! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगोंमें खटपट मची रहती है, गरीबी-का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं, ग्राहक नीतिका पालन नहीं करते। एक अन्यायसे दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दु.ख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वह अंतमें दुःख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है।

इसलिए ज्ञानियोंने कह रखा है––

"जहां धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वरको कोई नहीं पूजता।"

अंग्रेज मुंहसे तो कहते हैं कि धन और ईश्वरमें परस्पर विरोध है, गरीबहीके घरमें ईश्वर वास करता है; पर व्यवहार-में वे धनको सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियोंकी गिनती करके अपनेको सुखी मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करनेके नियम बनाते हैं जिन्हें सीखकर लोग धनवान हो जायं। सच्चा शास्त्र न्याय-बुद्धिका है। प्रत्येक प्रकारकी स्थितिमें न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय––जो राष्ट्र इस शास्त्रको सीखता है वही सुखी होता है; बाकी सब बातें वृथा प्रयास हैं, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' के समान हैं। लोगों-को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करनेकी शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

: ४ :

सत्य क्या है ?

पिछल तीन प्रकरणोंमें हम देख चुके कि अर्थ-शास्त्रियों-के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हें। उन नियमों-के अनुसार आचरण करनेपर व्यक्ति और समाज दोनों दु:खी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसेवालेके पास अधिक पैसा जमा होता है; फिर भी दोमेंसे एक भी सुखी होता या रहता नहीं ।

अर्थशास्त्री मनुष्योंके आचरणपर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेनेको ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनताके सुखका आधार केवल धनको बताते हैं। इसीलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदिकी वृद्धिसे जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरहके विचारोंके प्रचारके कारण इंग्लैंड और दूसरे देशोंमें कारखाने बढ़ गए हैं। बहुतसे आदमी शहरोंमें जमा होते हैं और खेती-बाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर-की सुंदर स्वच्छ वायुको छोड़कर कारखानोंकी गंदी हवामें रात-दिन सांस लेनेमें सुख मानते हैं। इसके फलस्वरूप जनता कम-जोर होती जा रही है, लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीतिको दूर करनेकी बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलानेवाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियोंको एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबोंकी अनीतिका कारण धनवान हैं। उनके भोग-विलास-का सामान जुटानेके लिए गरीब

रात-दिन मजदूरी करते हैं, उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा काम, करनेके लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकोंको देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं। धनी न हो पानेपर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्तेसे धन न मिलता देख दगा-फरेबसे पैसा कमानेका वृथा प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलानेमें उनका उपयोग होता है।

वास्तवमें सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानव-जातिका भरण-पोषण हो। भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्यको यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीतिके मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टिसे विचार करनेसे बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जायंगे। संभव है कि कल-कारखाने खोलकर धन-वान होनेका मार्ग ग्रहण करना पाप-कर्म मालूम हो। पैसा पैदा करनेवाले बहुतेरे मिलते हैं; पर उसका यथाविधि उपयोग करने-वाले कम पाये जाते हैं। जिस धनको पैदा करनेमें जनता तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामोंके कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युगके अधिकांश युद्धोंका मूल कारण धनका लोभ ही दिखाई देता है।

लोग यह कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरोंको सुधारना, ज्ञान देना असंभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहनेवाले स्वयं नीतिका पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीतिका पालन करता है और लोभमें नहीं पड़ता, वह पहले तो अपने मनको स्थिर रखता

है, वह स्वयं सन्मार्गसे विचलित नहीं होता और अपने कार्यसे ही दूसरोंपर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वयं जबतक नैतिक नियमोंका पालन न करें, तबतक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है? हम खुद तो मनमाना आचरण करें और पड़ोसीकी अनीतिके कारण उसके दोष निकालें, तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है!

इस प्रकार विचार करनेसे हम देख सकते हैं कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दुःख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्यके हाथमें पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्यके हाथमें धन पड़नेसे उससे (मान लीजिये कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगोंका सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनानेवाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दुःख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्रमें नीति है वह धनसंपन्न है। यह जमाना भोग-विलासका नहीं है। हरेक आदमीको जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरणमें हम देख चुके हैं कि जहां एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरेको दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इंग्लैंडमें जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जानेपर कोई उपयोगी काम नहीं करते, अतः उनके लिए दूसरे आदमियोंको परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होनेके कारण काम करनेवालेका इसमें लाभ नहीं होता। ऐसा होनेसे राष्ट्रकी पूंजी घट जाती है। इसलिए ऊपरसे यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगोंको काम मिल रहा

है, परन्तु भीतरसे जांच करनेपर मालूम होता है कि अनेक आदमियोंको बेकार बैठना पड़ रहा है। पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती हैं, असंतोषकी जड़ जमती है और अंतमें मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहेमें सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूरमें दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशुकी अवस्थामें पहुंच जाता है।

: ५ :

सारांश

महान् रस्किनके लेखोंका खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकोंको नीरस मालूम होंगे; तथापि जिन्होंने इन्हें एक बार पढ़ लिया हो उनसे हम फिर पढ़नेकी सिफारिश करते हैं। 'इंडियन ओपीनियन'[1] के सब पाठकोंसे यह आशा रखना कि वे इनपर विचारकर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय। पर यदि थोड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सारको ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किनके अंतिम परिच्छेदके अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसीमें

[1] इस नाम का गुजराती-अंगरेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजी ने दक्षिण अफ्रीकामें रहते समय डरबनसे निकाला था। अब भी यह निकल रहा है।

फलका समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किनने जो बातें अपने भाइयों—अंग्रेजोंके लिए लिखी हैं वे अंग्रेजोंके लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारतवासियोंके लिए हज़ार हिस्से लागू होती हैं। हिंदुस्तानमें नये विचार फैल रहे हैं। आजकलके पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए युवकोंमें जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोशका अच्छा उपयोग होनेसे अच्छा, और बुरा होनेपर बुरा परिणाम होता है। एक ओरसे यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओरसे यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजीके साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों। नेटालमें स्वराज है; पर हम कहते हैं कि नेटालमें जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हों तो ऐसा स्वराज नरक-राज है। नेटालवाले काफ़िरोंको कुचलते हैं, भारतीयोंके प्राण हरण करते हैं। स्वार्थमें अंधे होकर स्वार्थराज भोग रहे हैं। यदि काफ़िर और भारतीय नेटालसे चले जायं तो वे आपसहीमें कट मरें।

तब क्या हम ट्रांसवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेंगे? जनरल स्मट्स उसके नायकोंमेंसे एक हैं। वह अपने लिखित या जबानी दिये हुए वचनोंका पालन नहीं करते। कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। अंग्रेज उनसे ऊब उठे हैं। रुपया बचानेके बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकोंकी लगी रोजी छीनकर उनके स्थानमें डच लोगोंको रखा है। हम नहीं मानते कि इससे अंतमें डच भी सुखी होंगे। जो लोग स्वार्थपर दृष्टि रखते हैं वे पराई जनताको लूटनेके बाद अपनी जनताको लूटनेके लिए सहज ही तैयार हो जायंगे।

संसारके समस्त भागोंपर दृष्टि डालनेसे हम देख सकते हैं कि जो राज स्वराजके नामसे पुकारा जाता है, वह जनताकी उन्नति और सुखके लिए पर्याप्त नहीं है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानीसे इस बातको देख सकते हैं। लुटेरोंके दलमें स्वराज हो जानेसे क्या फल होगा, यह सभी जान सकते हैं। उनपर किसी ऐसे मनुष्यका अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो, तभी वे अंतमें सुखी हो सकते हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैंड सभी बड़े-बड़े राज्य हैं; पर यह माननेके लिए कोई आधार नहीं कि वे सचमुच सुखी हैं।

स्वराजका वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीतिका पालन करता है, दूसरोंको धोखा नहीं देता, माता-पिता, स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर, पड़ोसी सबके प्रति अपने कर्त्तव्यका पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देशमें हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्रमें ऐसे मनुष्योंकी संख्या अधिक हो, उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रपर शासन करना साधारणतः बुरा कहा जा सकता है। अंग्रेजोंका हमपर राज करना एक उल्टी बात है; परन्तु यदि अंग्रेज भारतसे कूच कर जायं तो मानना चाहिए कि भारतीयोंने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हमपर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हम ही हैं। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जायं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारतसे चले जायंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराज को भोग सकते हैं।

बमबाजीसे बहुतसे लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझीकी निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारनेवाले ही भारतके मालिक बनेंगे; अर्थात्, भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजोंका नाश करनेवाले बम अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंपर बरसेंगे। फ्रांसके प्रजातंत्रके अध्यक्ष––राष्ट्रपति––को मारनेवाला फ्रेंच ही था। अमरीकाके राष्ट्रपति क्लीवलैंडको मारनेवाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रोंका अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पाप-कर्मसे––अंग्रेजोंको मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमें कारखाने खोलनेसे भी स्वराज नहीं मिलनेका। रस्किनने इस बातको पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिममें सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिये तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनोंमें पश्चिमकी जनता वर्णसंकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारतकी कदापि न हो। यूरोप-के राष्ट्र एक-दूसरेपर घात लगाये बैठे हैं। केवल अपनी तैयारीमें लगे होनेके ही कारण सब शांत हैं। किसी समय जब जोरोंकी आग लगेगी तब यूरोपमें नरक ही दिखाई देगा। यूरोपका प्रत्येक राज्य काले आदमियोंको अपना भक्ष्य मान बैठा है। जहां केवल धनका ही लोभ है वहां कुछ और हो ही कैसे सकता है! उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पड़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांसपर टूटते हैं। इस प्रकार सब उनके

कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण हैं।

अंतमें भारतको स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियोंकी पुकार है और यह उचित ही है; परन्तु स्वराज हमें नीति-मार्गसे प्राप्त करना है। वह नामका नहीं, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायोंसे नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्तेसे होना चाहिए। भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारत-वासी स्वर्णरूप से थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गए हैं, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुनः सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्‌गुणोंद्वारा स्वर्ण-रूप बनना है। हमें स्वर्ण बनाने-वाला पारसमणि दो अक्षरोंमें अंतर्निहित है और वह है 'सत्य'। इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारतको घर-बैठे स्वराज मिल जायगा।

मंगल प्रभात

[व्रत-विचार]

मंगल प्रभात

: १ :

सत्य

प्रातःकालकी प्रार्थनाके बाद

२२-७-३०

हमारी संस्थाका मूल ही 'सत्यका आग्रह' है, इसलिए पहले सत्यको ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत्से बना है। सत्का अर्थ है अस्ति; सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्यके बिना दूसरी किसी चीजकी हस्ती ही नहीं है। परमेश्वरका सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है यह कहनेकी अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ताके बिना, सरदारके बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारनेपर तो लगेगा कि 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्यके साथ ज्ञान—शुद्ध ज्ञान अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है वहां शुद्ध ज्ञानकी संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नामके साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्दकी योजना हुई है और जहां सत्य ज्ञान है वहां आनंद ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्यके शाश्वत होनेके कारण आनंद भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वरको हम सच्चिदानंदके नामसे भी पहचानते हैं।

इस सत्यकी आराधनाके लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्‌वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्यका अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थमें सत्य शब्दका प्रयोग किया है। विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्यका होना ही सत्य है। इस सत्यको संपूर्णतः समझनेवालेके लिए जगतमें और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आये हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाये वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनंद तो हो ही कहांसे सकता है! यदि हम इस कसौटीका उपयोग करना सीख जायं तो हमें यह जाननेमें देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, और कौन त्याज्य। क्या देखने योग्य है, क्या नहीं; क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणिरूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवानने दिया है—अभ्यास और वैराग्यसे। सत्य-की ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओंमें आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायंगे कि एकके लिए जो सत्य है, दूसरेके लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबरानेकी बात नहीं है। जहां शुद्ध प्रयत्न है वहां भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तोंके समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमीको भिन्न

दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है पर सत्य नाम ही परमेश्वरका है, अत. जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्यकी खोजके साथ तपश्चर्या होती है। अर्थात् आत्म-कष्ट-सहनकी बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अत: उसमें स्वार्थकी तो गंधतक भी नहीं होती। ऐसी नि स्वार्थ खोजमें लगा हुआ आजतक कोई अंत-पर्यन्त गलत रास्तेपर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्यकी आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है; अथवा वह 'हरिका मार्ग' है जिसमें कायरताकी गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नामकी कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीनेका मंत्र' है।

पर अब हम लगभग अहिंसाके किनारे आ पहुंचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंगके साथ हरिश्चंद्र, प्रह्लाद, रामचंद्र, इमाम, हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदिके दृष्टांत विचारने योग्य है। चाहिए कि अगले सप्ताहतक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो ! यह सत्य-रूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्न-चिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभीके लिए वैसा ही सिद्ध हो !

: २ :

अहिंसा

मंगलप्रभात

२९–७–३०

सत्यका, अहिंसाका मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांड़ेकी धारपर चलनेके समान है। नट जिस डोरपर सावधानीसे नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसाकी डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पलकी साधनासे ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्यके संपूर्ण दर्शन तो इस देहसे असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देहद्वारा शाश्वत धर्मका साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अंतमें श्रद्धाके उपयोगकी आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासुके पल्ले पड़ी। जिज्ञासुके सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्गमें आनेवाले संकटोंको सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलनेपर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दरपर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाशमें उसने देखा कि जिस सत्यकी उसे तलाश है वह बाहर नही है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचनेको हमने उसे दंड दिया। उस वक्तके लिए तो वह भाग गया जरूर; लेकिन उसने दूसरी

जगहे जाकर सेंध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अंधेरी गलीमें ठोकर खाई। चोरका उपद्रव बढ़ता गया; क्योंकि उसने तो चोरीको कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते है कि चोरका उपद्रव सह लें, इससे चोरको समझ आयेगी। इस सहनसे हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, उन्हें सजा देनेकी जरूरत नहीं है; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनानेका उपाय खोजनेतकका कष्ट सहनेको तैयार होना चाहिए। यह अहिंसाका मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने-की ही बात आती है, अटूट धैर्य—शिक्षाकी बात आती है। यदि यह हो जाय तो अंतमें चोर साहूकार बन जाता है और हमें सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगतको मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वरकी—सत्यकी—महिमा अधिक समझते है, संकट सहते हुए भी शांति-सुख बढ़ता है, हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है, हम शाश्वत-अशाश्वतका भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने-आप घट जाता है और देहके अंदर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टिके सामने है। किसीको न मारना इतना तो है ही, कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जगतके लिए जो आवश्यक

वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते है वह जगतके लिए आवश्यक है। जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरोंतले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें? तो भी निस्तार नही है। विचारमें देहके साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंतमें देह हमें छोड़ देगी। यह मोहरहित स्वरूप सत्य-नारायण है। यह दर्शन अधीरतासे नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन। फिर भी जिसने अहिंसाका थोड़ा भी विचार किया होगा, उसे समझनेमें कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा बिना सत्यकी खोजके असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्केके दोनों रुख, या चिकनी चकतीके दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा! फिर भी अहिंसाको साधन और सत्यको साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथकी बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधनकी चिंता करते रहनेपर साध्यके दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्गमें चाहे जो संकट आयें, बाह्य दृष्टिसे देखनेपर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कारका एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्य-रूप परमेश्वरके नामपर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालनका बल दे!

: ३ :

ब्रह्मचर्य

मंगलप्रभात

५-८-३०

हमारे व्रतोंमें तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है। वास्तवमें देखनेपर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्यके व्रतमेंसे ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुष्यने सत्यको वरा है उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तुकी आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकारकी आराधनाकी तो बात ही कहां उठ सकती है! जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्यके दर्शनके लिए हैं, वह संतानोत्पत्तिके काममें या घर-गिरस्ती चलानेके झगड़ेमें पड़ ही कैसे सकता है! भोग विलासद्वारा किसीको सत्य प्राप्त होनेकी आजतक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसाके पालनको लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्यके बिना असाध्य है। अहिंसा, अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जहां पुरुषने एक स्त्रीको या स्त्रीने एक पुरुषको अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरेके लिए क्या बच रहा! इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बादको।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्रीके लिए सर्वस्व होमनेको तैयार होगा। अतः यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुंब नहीं बना सकता; क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुंब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी

प्रेममें विक्षेप होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसारमें देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रतका पालन करनेवालेसे विवाह नहीं बन सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या !

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी ? उन्हें सत्यकी प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है——विवाहितका अविवाहितकी भांति हो जाना। इस दिशामें इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थितिका मजा जिसने चखा है वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ोंसे वे मुक्त हो जाते हैं। संसारभरकी सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं——यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊंचे ले जानेवाला, बंधनमेंसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजीमें वृद्धि करते हैं, कुटुंब बढ़ाते हैं, विकाररूपी मैल निकलनेसे प्रेम भी बढ़ता है। विकारोंके जानेसे एक-दूसरेकी सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहां कलहके लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचारके समझ लेने और उसके हृदयमें बैठ जानेके बाद ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-लाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलासके लिए वीर्य खोना और शरीरको निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ! वीर्यका उपयोग दोनोंकी शारीरिक और मानसिक शक्तिको बढ़ानेके लिए है। उसका विषय-भोगमें उपयोग करना यह उसका

अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगोंकी जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कर्म तीनोंसे होना चाहिए। व्रतमात्रके विषयमें यही बात समझनी चाहिए। हम गीतामें पढ़ते हैं कि जो शरीरको तो वशमें रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मनको विकारी रहने देकर शरीरको दबानेकी कोशिश करनेमें हानि ही है। जहां मन होता है वहां शरीर अंतमें घसिटाए बिना नहीं रहता। यहां एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक बात है, मनका अपने-आप, अनिच्छासे, बलात्कारसे विकारको प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकारमें यदि हम सहायक न बनें तो अंतमें जीत ही है। हमारा प्रतिपलका यह अनुभव है कि शरीर काबूमें रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीरको तो तुरंत ही वशमें करके मनको वशमें करनेका हम सतत प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्य पालन कर लिया। हमारे, मनके अधीन होते ही, शरीर और मनमें विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरंभ हो जाता है। पर जहांतक मनोविकारको दबाते ही रहते हैं वहांतक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारणकी खोज करनेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यको संकुचित अर्थमें लिया गया है। जननेंद्रिय-विकारके निरोध-भरको ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयालमें यह व्याख्या अधूरी और गलत है। विषय-मात्रका निरोध

ही ब्रह्मचर्य है। निस्संदेह, जो अन्य इंद्रियोंको जहां-तहां भटकने देकर एक ही इंद्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कानसे विकारी बातें सुनना, आंखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तुका स्वाद लेना, हाथसे विकारोंको उभारनेवाली चीजको छूना और फिर भी जननेंद्रियको रोकनेका इरादा रखना तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेके प्रयत्नके समान है। इसलिए जननेंद्रियको रोकनेका निश्चय करने-वालेके लिए इंद्रिय-मात्रका, उनके विकारोंसे रोकनेका निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्यकी संकुचित व्याख्यासे नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियोंका एक साथ वशमें करनेका अभ्यास डालें तो जननेंद्रियको वशमें रखनेका प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसीलिए व्रतोंमें उसके संयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्यकी—शोधमें चर्या, अर्थात् तत्-संबंधी आचार। इस मूल अर्थमेंसे सर्वेंद्रिय-संयम-रूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रिय-संयमरूपी अधूरे अर्थको तो हमें भूल जाना चाहिए।

: ४ :

अस्वाद

मंगलप्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्यके साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखनेवाला है। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है। साधारणतया इसे व्रतोंमें पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रतको पृथक् स्थान न मिला। पर यह केवल मेरा अनुमान-मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रतको पृथक् स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूप से विचार कर लेना उचित है।

अस्वादका अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवाके खानेमें हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं, वही बात अन्नके विषयमें समझनी चाहिए। अन्नसे मतलब समस्त खाद्य पदार्थोंसे है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाणसे कम खानेपर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाणमें खानेसे हानि होती है, वही बात अन्नके बारेमें है। इसलिए किसी भी वस्तुको स्वाद लेनेके लिए चखना, व्रतका भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तुका अधिक परिमाणमें लेना तो अनायास व्रतका भंग हो गया। इससे यह समझमें आ सकता है कि किसी चीजका स्वाद बढ़ाने या बदलनेके लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद

मिटानेको नमक मिलाना, यह व्रतभंग है। पर अमुक परिमाणमें नमककी जरूरत है यह हम जानते हों और इस वजहसे उसमें नमक मिलावें तो इसमें व्रतभंग नहीं है। शरीर-पोषणके लिए आवश्य-कता न होनेपर भी मनको ठगनेके लिए आवश्यकताका आरोप करके किसी चीज का बढ़ा लेना तो मिथ्याचार ही माना जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हम पायंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक न होनेके कारण त्याज्य-श्रेणीमें हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओंका अनायास त्याग हो जानेसे उस मनुष्यके विकार-मात्र शांत हो जायंगे। "एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है", "पेट तरह-तरह के नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है" इन सब वचनोंमें बड़ा अर्थ समाया हुआ है। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे आहारका चुनाव प्रायः अशक्य हो गया है। बचपनसे ही मा-बाप झूठा लाड़-चाव करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको बिगाड़ देते हैं और जीभको कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमें आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पदपर अनुभव करते हैं, फजूलखर्चियोंमें पड़ते हैं, वैद्य-डाक्टरोंकी खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इंद्रियोंको वशमें रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपंगकी भांति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि संसारमें मैंने एक भी नीरोगी मनुष्य नहीं देखा। ज़रा भी स्वादके फेरमें पड़नेसे शरीरके लिए उपवासकी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारासे किसीको घबरानेकी जरूरत नहीं है।

अस्वाद-व्रतकी भयंकरता देखकर उसे त्याग देनेकी भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेनेका अर्थ यह नहीं होता कि हम उसी समयसे उसका पूर्ण रूपसे पालन करने लग गए। व्रत लेनेका अर्थ होता है संपूर्ण रूपसे उसके पालनका सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्मसे, जीवनपर्यन्त करना। किसी व्रतके कठिन होनेके कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मनको धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधाके लिए आदर्शको गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्शको स्वतंत्र रूपसे जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करनेका जी-जानसे प्रयत्न करना परम अर्थ है—पुरुषार्थ है। (पुरुष शब्दका अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुरमें अर्थात् शरीरमें जो रहे वह पुरुष। यह अर्थ लेनेसे पुरुषार्थ शब्दका उपयोग स्त्री-पुरुष दोनोंके लिए हो सकता है।) जो तीनों कालमें संपूर्ण रूपसे महाव्रतोंका पालन करनेमें समर्थ है उसे इस जगतमें कुछ भी करनेको नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्यका आग्रह रखनेवाले, उसकी खोज करनेवाले प्राणी हैं। इसलिए गीताकी भाषामें, धीरे-धीरे, किंतु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसादके योग्य हो जायंगे और तब हमारे रस-मात्र भस्म हो जायंगे।

अस्वादव्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचते रहनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानीकी, जागृति की पूरी आवश्यकता रहती है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते हैं और कब

शरीर-पोषणके लिए खाते हैं। वह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़ता-पूर्वक स्वादोंको घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टिसे विचार करनेपर अस्वाद-वृत्तिसे बननेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहां हमें रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायंगे, क्या खायंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो उसे ईश्वरका अनुग्रह मानकर, मनमें भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक, शरीरके लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रतका पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हलका कर देते हैं, हमारे व्रतके रक्षक बनते हैं। स्वाद करनेकी दृष्टिसे उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाजके शरीरका पोषण करनेके लिए ही रसोई बनायें। वास्तवमें तो आदर्श स्थितिमें अग्निकी आवश्यकता कम-से-कम या बिलकुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाअग्नि जिन चीजोंको पकाती है उन्हींमेंसे हमारे खाद्यका चुनाव होना चाहिए। इन विचारोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यको केवल फलाहारी होना चाहिए। परंतु यहां इतनी गहराईमें उतरनेकी जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन सी कठिनाइयां हैं या नहीं हैं, और उसका ब्रह्मचर्य-पालनके साथ कितना अधिक निकट-संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रतके पालनका शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

: ५ :

अस्तेय

मंगलप्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेयव्रतपर आते हैं। गंभीरतासे विचारनेपर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्यके गर्भमें स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाए जा सकते हैं :

ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, इत्यादि। चाहें तो हम इस क्रमको और बढ़ा सकते हैं।

सत्यमेंसे अहिंसाकी उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसाका जोड़ा मान सकते हैं। दोनों वस्तुएं एक ही हैं; तथापि मेरा मन पहलेकी ओर झुकता है। अंतिम स्थिति जोड़ेसे—द्वंद्वसे—अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसाको हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है। सत्यका तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्णरूपसे उसका जानना देहीके लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देहीके लिए अहिंसाका पूर्ण पालन।

अस्तेयका अर्थ है चोरी न करना। चोरका सत्यको जानना या प्रेम-धर्मका पालन संभव नहीं है तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरीका दोष जाने-अनजाने करते हैं। दूसरेकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जाने-वाली चीजकी भी चोरी करता है——जैसे, एक बाप अपने बच्चों-को जनाये बिना, उनसे छिपानेकी नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रमका भंडार हम सभीका कहलायगा; पर उसमेंसे चुपकेसे गुड़की एक डली भी लेनेवाला चोर है। दूसरे लड़केकी कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। लावा-रिस समझकर कोई चीज लेनेमें भी चोरी है। पड़ुआ (राहमें पड़ी) चीजके मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेशका राज या वहांकी सरकार है। आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रमके मंत्रीको सौंपनी चाहिए। आश्रमकी न होनेपर मंत्री उसे पुलिसके हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीजकी जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकारमें वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसारमें ज्यादा-से-ज्यादा खानेकी चीजोंके संबंधमें होती है। मुझे अमुक फलकी जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरतसे ज्यादा खाता हूं, तो यह चोरी है। वस्तुत अपनी आवश्यकताकी मात्राको मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्राय: हम सब, अपनी जरूरतोंको आवश्यकतासे अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारनेपर मालूम होगा कि

हम अपनी बहुतेरी जरूरतोंको घटा सकते हैं। अस्तेयव्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसारमें अधिकतर दरिद्रता अस्तेयके भंगसे पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियोंको बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमारा किसीकी चीज पानेकी इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है। सयाने या बच्चेका, किसी अच्छी चीजको देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीरसे तो नहीं खाता, पर दूसरोंको खाते देखकर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता है और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मनमें उपवासके बदले भोजनके मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवासका भंग करता है। अस्तेयव्रतका पालनकर्ता भविष्यमें मिलनेवाली चीजोंके चक्करमें नहीं पड़ता। अनेक चोरियोंके मूलमें यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचारमें होती है, कल उसे पानेको हम भले-बुरे तरीके काममें लाते हैं।

वस्तुकी भांति ही विचारोंकी चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचारकी चोरी करना है। संसारके इतिहासमें ऐसी चोरी अनेक विद्वानोंने भी की और आज कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्र में नये ढंगका एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रममें बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा आविष्कार है, तो इसमें मैं स्पष्ट दूसरेके आविष्कारकी चोरी करता हूं और इसमें असत्यका आसरा तो लेता ही हूं। अतः अस्तेयव्रतका

पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगीसे रहनेकी जरूरत पड़ती है।

: ६ :

अपरिग्रह

मंगलप्रभात

२६–८–३०

अपरिग्रहको अस्तेयसे संबंधित समझना चाहिए। वास्तवमें चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरीका-सा माल हो जाता है। परिग्रहका अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्य-शोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अतः यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओं-का, भक्तोंका यह अनुभव है। रोजके कामभरका रोज पैदा करने-के ईश्वरीय नियमको हम नहीं जानते, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अतः जगतमें विषमता और उससे होनेवाले दु ख भोगते हैं। धनीके घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभावमें करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़ेसे ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता-भरको ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको संतोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होनेको छटपटाता है, उसे

संतोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरने-भरको ही पाकर संतोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगाल-को पेटभर पानेका अधिकार है और समाजका धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने संतोषके लिए शुरुआत धनीको करनी चाहिए। वह अपना अत्यंत परिग्रह त्याग दे तो दरिद्रके काम-भरको सहजमें मिल जाय और दोनों पक्ष संतोषका सबक सीखें। आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मनसे और कर्मसे दिगंबर है। यहांतक कि वह पक्षीकी भांति बिना घरके, बिना वस्त्रोंके और बिना अन्नके विचरण करता है। अन्न तो उसे रोजकी जरूरत-भरको भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थितिको तो बिरले ही पहुंच सकते हैं। हम मामूली दर्जेके सत्याग्रहके जिज्ञासुओंको तो चाहिए कि आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जांच करते रहें और जहांतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधारका, सच्ची सभ्यताका लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जानेसे सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टिसे विचारने और बरतनेपर हमें मालूम होगा कि आश्रममें हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते है कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे पड़ोसीको चोरी करनेके लालचमें फँसाते हैं। अभ्याससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह-से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्यकी, आत्माकी दृष्टिसे विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोगकी इच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छाके

अत्यंत क्षीण हो जानेपर शरीरकी जरूरत नहीं रह जाती। सर्व-व्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़ेमें कैसे बंद रह सकता है! यह पिंजड़ा बनाये रखनेको अनर्थ कैसे कर सकता है! दूसरेको कैसे मार सकता है! यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्यागको पहुंच जाते हैं और शरीरकी स्थिति-पर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहांतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक ख़ूराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊंघना सब सेवाके लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अंतमें सत्यकी झांकी करेगा। इस दृष्टिसे हम सबको अपने परिग्रहपर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओंकी भांति विचारका भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमागमें निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हों अथवा ईश्वरके प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रहके अंदर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवानकी तेरहवें अध्यायमें दी हुई ज्ञानकी यह परिभाषा हमें खयालमें लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो, और सत्य है ही, तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञानके नाम-से संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभके बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंतमें खाली हो जाता है; असंतोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्यकी ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है वह क्षण-भर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहां

तो सारासारका विवेक सीखनेकी बात है। सेवा-परायणको यह विवेक सहज-प्राप्त होता है।

: ७ :

अभय

मंगलप्रभात
२–९–३०

सोलहवें अध्यायमें दैवी संपद्का वर्णन करते हुए भगवानने इसकी गिनती सबसे पहले की है। मै इस विवादमें नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोककी संगतिके सुविधार्थ या अभयको प्रथम स्थान देनेके औचित्यकी दृष्टिसे है। न यह निर्णय करनेकी मुझमें योग्यता है। मेरी समझमें अभयको अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभयके विना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं। अभयके बिना सत्यकी खोज कैसे हो सकती है! अभयके बिना अहिसाका पालन कैसे हो सकता है! हरिके मार्गपर चलना खांडेकी धारपर चलना है, वहां कायरका काम नही है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक। वीरके मानी है भयमुक्त; तलवारादि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरताका चिह्न नहीं, बल्कि भीरुताकी निशानी है।

अभयके मानी हैं बाहरी भय-मात्रसे मुक्ति—मौतका भय, धन-दौलत लुट जानेका भय, कुटुब-परिवारविषयक भय, रोगभय, शस्त्रप्रहारका भय। प्रतिष्ठाका भय, किसीके बुरा मानने-

का भय। भयकी यह पीढ़ी चाहे जितनी लंबी बढ़ाई जा सकती है। साधारणतः कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भयको जीत लिया तो सब भयोंको जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौतका भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकारके दुःखोंसे भागते हैं। कुछ मरनेको तैयार होनेपर भी सगे-संबंधियोंका वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवाह नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करनेको तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसारकी निंदाके भयसे, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करनेमें हिचकिचायेगा। सत्यकी खोज करनेवालेका तो समस्त भयोंको तिलांजलि दिये बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चंद्रकी भांति मिट जानेकी तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चंद्रकी कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी-मात्रका यह अनुभव है। अतः उस कथाकी कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथासे अनंत-गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा मननीय है।

अभयव्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भय-मात्रसे मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थितिकी पराकाष्ठा है। निश्चय करनेसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरंभमें ही कहा है कि हमें बाहरी भयोंसे मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादिका भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेनेसे बाहरी भयोंका उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देहके कारण हैं। देह-विषयक राग दूर हो जानेसे अभय सहजमें प्राप्त हो जा सकता है।

इस दृष्टिसे मालूम होता है कि भय-मात्र हमारी कल्पनाकी उपज है। धनसे, परिवारसे, शरीरसे, 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां ! 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'—यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के-त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं; इनके बारेमें अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं हैं, यह ईश्वरके हैं, 'मैं' उसीका हूं, 'मेरी' कहलानेवाली इस संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ! इसलिए उपनिषदकारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग ! ' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने-भरकी ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहजमें भय-मात्रको जीत लें, सहजमें शांति पा जायं, सत्यनारायणके दर्शन प्राप्त कर लें।

: ८ :

अस्पृश्यता-निवारण

मंगलप्रभात

९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रतकी भांति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है। पर जितना वचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहां-तहां धर्ममें, धर्मके नाम या बहानेसे विघ्न डालती है और धर्मको कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी-चमार अछूत माने जाते हैं, पर अछूत नहीं हैं, वैसे मृतक

(लाश) भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणाका पात्र है। मुर्देको छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवानेके बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उचित है। मुर्देको छूकर या तेल लगाकर न नहानेवालेको गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चेका मैला उठानेपर माता जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो; पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी-चमार आदि नाम ही तिरस्कारसूचक हो गए है और वह जन्मसे ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनों साबुन बरसोंतक शरीरपर घिसा हो, चाहे वैष्णवका-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखकका पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है; यह अधर्म है और नाशके योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारणको व्रतमें स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता—छुआछूत—हिंदू-धर्मका अंग नहीं है। इतना ही नही, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिंदूका धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अतः उसे पाप माननेवालोंको चाहिए कि उसका प्रायश्चित करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित्तरूपसे भी धर्म समझकर हिंदूको चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहनको अपनावें, प्रेमपूर्वक सेवा-भावसे उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें। अछूतके दुख दूर करें। कुचले जाने के कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषोंको धैर्यपूर्वक दूर करनेमें उन्हें सहायता दें और दूसरे हिंदुओंको भी ऐसा करनेको राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यताको इस दृष्टिसे देखते हुए उसे

दूर करनेमें होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामोंको व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों, तथापि अस्पृश्यता-निवारणका व्रतरूपसे आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालोंको अपनायेगा। सत्यादिका आचरण करते हुए हमें ऐहिक फलका विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारीके लिए कोई युक्ति नहीं है; वह तो उसके शरीरसे लगी हुई वस्तु है, उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यताकी बुराई समझमें आ जानेपर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी-चमार कहलानेवाले लोगोंतक ही सीमित रही हो, सो बात नहीं है; सड़न-का स्वभाव है कि पहले राईके दानेके बराबर लगती है, फिर पर्वत-का रूप धारण कर लेती है और अंतमें जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछूतके संबंधमें भी है। यह छुआछूत विधर्मियोंके प्रति आई है, अन्य संप्रदायोंके प्रति आई है, एक ही संप्रदायवालोंके बीच भी घुस गई है और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत पालन करते-करते पृथ्वीपर भार-रूप हो गए हैं। वे अपने-आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीनेसे फुर्सत नहीं पाते; ईश्वरके नामपर ईश्वरको भूलकर वे अपने-को पूजने लग गए हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी-चमारको अपनाकर ही संतोष न मानेगा; वह जीव-मात्रको अपने-में न देखनेतक और अपनेको जीवमात्रमें न होनेतक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करनेका अर्थ है समस्त संसारके साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टिसे अस्पृश्यता-निवारण अहिंसाका जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसाके मानी है जीव-मात्रके प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यता-निवारणका भी यही अर्थ है। जीव-मात्रके साथका भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है।

अस्पृश्यताको यों देखनेपर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशोंमें संसार-भरमें फैला हुआ है; पर यहां हमने उसका हिंदूधर्ममें समाई हुई सड़नके रूपमें विचार किया है; क्योंकि हिंदूधर्ममें उसने धर्मका स्थान ले लिया है और धर्मके बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्योंकी स्थिति गुलामों-सीरीखी कर डाली है।

: ९ :

कायिक श्रम

मंगलप्रभात

१६–९–३०

कायिक श्रमके मनुष्यमात्रके लिए अनिवार्य होनेकी बात पहले-पहल टाल्स्टायके एक निबंधसे मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूपसे इस बातको जाननेके पहले, रस्किनका 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़नेके बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए)-श्रम'। रोटीके लिए हर आदमीका मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टायकी नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोहकी है। टाल्स्टायने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आंखें भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरीका अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञके लिए है। यहां यज्ञका अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता

भी है। जो भी हो हमारे इस व्रतकी यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तुकी ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवालेको खानेका क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना !" करोड़पति भी यदि अपने पलंगपर पड़ा रहे और मुंहमें किसीके खाना डाल देनेपर खाये तो बहुत दिनोंतक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनंद भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूपमें राजा-रंक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करनेकी ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसानसे हवा खाने या कसरत करनेको कोई नहीं कहता। और संसारके सैकड़े नव्वेसे भी अधिक मनुष्योंका निर्वाह खेतीसे होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसारमें कितना सुख, कितनी शांति और कितना आरोग्य फैले ! यदि खेतीके साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेतीके कामकी अनेक कठिनाइयां सहजमें दूर हो जायं। इसके सिवा यदि कायिक श्रमके इस निरपवाद नियमको सभी मानने लगें तो ऊंच-नीचका भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चताकी गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्थामें भी, वह घुस गई है। मालिक-मजदूरका भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीरसे ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटीके लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीचका भेद दूर हो जाय और फिर जो धनी-वर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धनका केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक-सेवाके लिए करेगा। जिसे अहिंसाका पालन करना है, सत्यकी आराधना

करनी है, उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाणरूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तवमें देखा जाय तो, खेती ही है। पर आजकी जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेतीका आदर्श ध्यानमें रखकर, आदमी एवजमें दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवालेका ही अपने मलको गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना-अपना कर्त्तव्य पालन करें। मुझे तो वर्षोंसे ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगीका अलग धंधा माना गया है वहां कोई महा-दोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्यको किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवालेने हमपर उपकार तो नहीं ही किया। हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिलमें बचपनसे दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करनेका सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक श्रमका आरंभ पाखाना साफ करनेसे करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षणसे धर्मको भिन्न और सच्चे रूपमें समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोगसे अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने। बालकका समावेश मातामें हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोगके होनेकी बात ही क्या है !

: १० :

सर्वधर्म-समभाव

१

मंगलप्रभात

२३–९–३०

हमारे व्रतोंमें सहिष्णुताके नामसे परिचित व्रतको यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसंद न था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काकासाहबको भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जंचा। दूसरे धर्मोको सहनेकी भावनामें उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदरमें कृपाका भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसाकी दृष्टिसे पर्याप्त नहीं है। दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव रखनेके मूलमें अपने धर्मकी अपूर्णता स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्यकी आराधना, अहिंसाकी कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्यको यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्यके आग्रहकी क्यों बात थी? तब तो हम परमेश्वर हो गए होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्यको पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करते है। इसीसे पुरुपार्थ-की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णताकी स्वीकृति आ गई। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतंत्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वरको नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्त्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होनेसे ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ

सकते हैं; सत्यकी ओर, ईश्वरकी ओर दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ सकते है। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मोंको अपूर्ण मान लेते है तो फिर किसीको ऊंच-नीच माननेकी बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोषके पात्र है। समभाव होने-पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपनेमें भी दोष देखना चाहिए। उस दोषके कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोषको दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मोंके ग्राह्य अंशको अपने धर्ममें लेते संकोच न होगा। इतना ही नही, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वर-दत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होनेके कारण, मनुष्यद्वारा उनका प्रचार होनेके कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वर-दत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषामें मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय! सब अपनी-अपनी दृष्टिसे, जबतक वह दृष्टि बनी है तबतक, सच्चे हैं; पर झूठा होना भी असंभव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मोंके प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्मके प्रति उदासीनता नहीं आती; बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्त्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मोंके प्रति समभाव आनेपर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्य-दर्शनमें उत्तर-दक्षिण जितना अंतर है। धर्मज्ञान होनेपर अंतराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभावके विकाससे हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्मका भेद नही मिटता। यहां तो उन धर्मोंकी बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूपमें जानते हैं। इन सभी धर्मोंके मूल सिद्धान्त एक ही हैं। सभीमें संत स्त्री-पुरुष हो गए हैं,

आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मोंके प्रति समभावमें, और धर्मियों——मनुष्योंके प्रति जिस समभावकी बात है उसमें, कुछ अंतर है। मनुष्यमात्र——दुष्ट और श्रेष्ठके प्रति, धर्मी और अधर्मीके प्रति समभावकी अपेक्षा है, पर अधर्मके प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुतसे धर्मोंकी आवश्यकता क्या है? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देहकी असंख्यता टाले नहीं टल सकती; तथापि आत्माकी एकताको हम पहचान सकते हैं। धर्मका मूल एक है, जैसे वृक्षका; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

: ११ :

सर्वधर्म-समभाव

२

मंगलप्रभात

३०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्वका है कि इसे यहां और विस्तारसे लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभावका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहांकी तरह फिनिक्समें भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिंदू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्रायः उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजीको 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजीनुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है

कि एक बार मगनलाल या काशी हम सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लासमें बोल उठे, " 'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न !" गवाने और गानेवालोंने इस सूचनापर तुरंत इस तरह अमल किया मानो वह बिलकुल स्वाभाविक हो। और इसके बादसे रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वे न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नामसे गाते। स्व० दाऊद सेठका पुत्र हुसेन तो आश्रममें बहुत बार रहता। वह प्रार्थनामें उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुरमें 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे-बाग दुनिया चंद रोज़' गाया करता और वह भजन हम सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थनामें गाया जाता था। हमारे यहांकी आश्रम-भजनावली-में उसे स्थान मिला है, वह सत्य-प्रिय हुसेनकी स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परतासे सत्यका आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रममें अक्सर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीतका उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थानपर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया। सबने तुरंत उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफके आनंदका पारावार न रहा।

आत्मसंतोषके लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्म-पुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिंदू इतनोंकी पुस्तकोंका अपने संतोषभरके लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययनके समय सभी धर्मोंके प्रति मेरे मनमें समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्दका भी पूरा परिचय न रहा होगा; परंतु

उस समयकी अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मोंके संबंधमें टीका-टिप्पणी करनेकी इच्छातक हुई हो। वरन् उनके ग्रंथोंको धर्मग्रंथ मानकर आदरपूर्वक पढ़ता और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिंदू-धर्मग्रंथोंके संबंधमें भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभवसे देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह माननेकी जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझमें नहीं आती थीं, वे आज दीपककी तरह दिखाई देती हैं। समभावका अभ्यास करनेसे अनेक गुत्थियां अपने-आप सुलझ जाती है और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसानेमें भी नम्रता और विवेक होनेके कारण किसीको दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेखमें मैंने कहा है कि धर्म-धर्मका भेद रहता है और धर्मके प्रति समभाव रखनेका अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्मका निर्णय करनेमें ही क्या समभावकी शृंखला नहीं टूट जाती ? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परंतु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभावमेंसे बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्मका आचरण करनेवालेके प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखायेगा। या दोनों एक-दूसरेके मतभेदको सहन करेंगे। अंतमें विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरतासे काम लेगा। तो भी हम अहिंसाके सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें संदेह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरताको अवश्य दूर कर देगी। दूसरेको, भूलके लिए भी,

हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियमका पालन करनेवाला सभी संकटोंमेंसे बच जाता है।

: १२ :

नम्रता

मंगलप्रभात

७-१०-३०

इसे व्रतोंमें पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसाका यह एक अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत है; परंतु नम्रता अभ्याससे प्राप्त नहीं होती, वह स्वभावमें ही आ जानी चाहिए। जब आश्रमकी नियमावली पहले-पहल बनी तब मित्रोंके पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी-ने नम्रताको व्रतोंमें स्थान देनेकी सूचना की थी और तब भी उसे व्रतोंमें स्थान न देनेका मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतोंमें उसे स्थान नहीं है, तथापि वह व्रतोंकी अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है; आवश्यक तो है ही। परंतु नम्रता किसीको अभ्याससे प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्यका अभ्यास किया जा सकता है, दयाका अभ्यास किया जा सकता है; परंतु नम्रताके संबंधमें, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दंभका अभ्यास करना है। यहां नम्रतासे तात्पर्य उस वस्तुसे नहीं है जो बड़े आदमियोंमें एक-दूसरेके सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहरसे दूसरेको साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मनमें उसके संबंधमें तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता

नहीं, लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनिसरीखा बनकर समाजमें बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादिका नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रताका नहीं। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती; तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्रका उदाहरण तो आश्रममें हम लोगोंने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यतातक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मनमें घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टीमें मिल गए। व्रत-पालन करनेवाला यदि मनमें अपने व्रत-पालनका गर्व रखे तो व्रतोंका मूल्य खो देगा और समाजमें विषरूप हो जायगा। उसके व्रतका मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रताका अर्थ है अहंभावका आत्यंतिक क्षय। विचार करनेपर मालूम हो सकता है कि इस संसारमें जीव-मात्र एक रजकणकी अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीरके रूपमें हम लोग क्षणजीवी हैं। कालके अनंत चक्रमें सौ वर्षका हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परंतु यदि हम इस चक्करसे बाहर हो जायं, अर्थात् 'कुछ नहीं हो जायं,' तो हम सब-कुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वरसे—परमात्मासे—सत्यसे—पृथक् हो जाना। कुछका मिट जाना परमात्मामें मिल जाना है। समुद्रमें रहनेवाला बिंदु समुद्रकी महत्ताका उपभोग करता है, परंतु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्रसे अलग होकर ज्यों ही अपनेपनका दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवनको पानीके बुलबुलेकी उपमा दी गई है; इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता--शून्यता--अभ्याससे कैसे आ सकती है ? पर व्रतोंको सही रीतिसे समझ लेनेसे नम्रता अपने-आप आने लगती है । सत्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है ! दूसरेके लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा ! उसने तो जब प्राण न्योछावर करनेका निश्चय किया तभी अपनी देहको फेंक दिया । क्या ऐसी नम्रता पुरुपार्थरहितता न कहलायेगी ! हिंदू-धर्ममें ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्यको, पाखंडको स्थान मिल गया है । वास्तवमें नम्रताका अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परंतु वह सब परमार्थके लिए होना चाहिए । ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक-सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तकका अवकाश नहीं लेता । हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया--हो जाना चाहिए । समुद्रसे अलग हो जानेवाले बिदुके लिए हम आरामकी कल्पना कर सकते हैं; परंतु समुद्रमें रहनेवाले बिदुके लिए आराम कहां ! समुद्रको एक क्षणके लिए भी आराम कहां मिलता है ! ठीक यही बात हमारे संबंधमें है । ईश्वर-रूपी समुद्रमें हम मिले और हमारा आराम गया, आरामकी आवश्यकता भी जाती रही । यही सच्चा आराम है । यह महा-अशांतिमें शांति है । इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीव-मात्रकी सेवाके लिए सर्वार्पणकी आशा रखती है । सबसे निवृत्त हो जानेपर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है, परंतु अनुभवगम्य है वह । जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है । हम सब अनुभव कर सकते हैं । यह अनुभव करनेके उद्देश्यसे ही हम लोग आश्रममें एकत्र हुए हैं ।

सब व्रत, सब प्रवृत्तियां यह अनुभव करनेके लिए ही हैं। यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीको खोजने जानेसे वह प्राप्त नहीं है।

: १३ :

स्वदेशी

प्रवचनोंमें 'स्वदेशी' पर लिखनेका विचार त्याग ही दूंगा; क्योंकि इससे मैंने राजनैतिक विषयोंको न छेड़नेका जो संकल्प किया है उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशीपर केवल धार्मिक दृष्टिसे लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयोंसे परोक्ष संबंध है।

: १४ :

स्वदेशी-व्रत

स्वदेशीव्रत इस युगका महाव्रत है। जो वस्तु आत्माका धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारणसे आत्माको जिसका भान नहीं रहा, उसके पालनेके लिए व्रत लेनेकी जरूरत पड़ती है। जो स्वभावत: निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करनेका व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभनकी चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्माका धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके

विषयमें व्रत लेनेकी जरूरत रहती है । आत्माके लिए स्वदेशीका अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधोंसे आत्यंतिक मुक्ति है । देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओंके साथ एकता स्थापित करनेमें बाधक होती है, उसके मार्गमें विघ्न रूप है । जीव-मात्रके साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्मको जानने और पालनेवाला देहका भी त्याग करता है ।

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकते है कि अपने पास रहनेवालोंकी सेवामें ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है । यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा । स्वदेशीकी शुद्ध सेवा करनेमें परदेशीकी भी शुद्ध सेवा होती ही है । यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे ।

इसके विरुद्ध दूरकी सेवा करनेका मोह रखनेमें वह हो नहीं पाती और पड़ोसीकी सेवा छूट जाती है । यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं । मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्राम-वासियोंको मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया । दूरवालोंकी सेवा करने जानेमें उनकी सेवा करनेका जिसका धर्म है वह उसे भूलता है । वहांका वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड़कर चला ही था । यों हर तरहसे उसने नुकसान ही किया । ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है । इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेय. परधर्मो भयावह:' वाक्यकी उत्पत्ति हुई है । इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है ।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी ।

स्वदेशीको समझ न पानेसे ही गड़बड़ी होती है । कुटुंबपर

मोह रखकर मैं उसे पोसूं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं, तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्मकी खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्मके पालनसे परधर्मीको या परधर्मको कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए। पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं, बल्कि स्वाभिमान है; अतः वह त्याज्य है।

स्वदेशीका पालन करते हुए कुटुंबका बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंबकी सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि जैसे हम अपनेको खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंबको खोकर कुटुंबकी रक्षा कर सकते हैं। मानिये, मेरे गांवमें महामारी हो गई। इस बीमारीके चंगुलमें फंसे हुओंकी सेवा-में मैं अपनेको, पत्नीको, पुत्रोंको, पुत्रियोंको लगाऊं और इस रोगमें फंसकर मौतके मुंहमें चले जायं तो मैंने कुटुंबका संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशीमें स्वार्थ नहीं है, अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ; शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थकी पराकाष्ठा।

इस विचारधाराके अनुसार मैंने खादीमें सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझमें आनेयोग्य, सभीको जिसके पालनेकी इस युगमें, इस देशमें भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालनेसे भी हिंदुस्तानके करोड़ोंकी रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवाबमें चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्मके पालनसे परदेशी मिलवालोंको नुकसान होता है। चोरको चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है।

पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवार को या अफीमके दुकानदारको नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीतिसे जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थका नाश होनेमें उनको और जगतको फायदा ही है।

पर जो चर्खेद्वारा जैसे-तैसे सूत कातकर, खादी पहन-पहनाकर स्वदेशी धर्मका पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोहमें डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशीकी पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्मकी परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गए हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं; वे स्वदेशीका पालन नहीं करते। वे तो प्रवाहमें बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रतका पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसीकी सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथका तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा, वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा; फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जेकी ही क्यों न हो। इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काममें नहीं लाने लग जायगा।

किंतु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएंमें डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेशमें नहीं बनती अथवा महाकष्टसे ही बन सकती है, वह परदेशके द्वेषके कारण अपने देशमें बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशीका कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशीमें किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेममेंसे, अहिंसामें से पैदा हुआ सुंदर धर्म है।

: १५ :

व्रत की आवश्यकता

मंगलप्रभात

१४–१०–३०

व्रतके महत्त्वके संबंधमें मैं जहां-तहां इस लेखमाला में लिख गया होऊंगा; परंतु व्रत जीवनके गठनके लिए कितने आवश्यक हैं, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतोंके संबंधमें लिख चुकनेके बाद अब उन व्रतोंकी आवश्यकतापर विचार करेंगे।

ऐसा एक संप्रदाय है और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमोंका पालन करना उचित है, पर उनके संबंधमें व्रत लेनेकी आवश्यकता नहीं; इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मनकी निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेनेके बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्य है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरणके लिए; शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए; पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ ? दवाकी भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीनेका व्रत यह तो गलेमें फंदा डालनेके समान है। और जो बात शराब-के बारेमें है वही बात दूसरी चीजोंके बारेमें है। झूठ भी भलाईके लिए क्यों न बोला जाय ! ' मुझे इन दलीलोंमें तत्व नहीं दिखाई देता। व्रतका अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनोंको पार कर जाने-के लिए ही तो व्रतकी आवश्यकता है। असुविधा सहन करनेपर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसारका अनुभव इस बातकी गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चयके

बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय, व्रत नहीं कहलाता। वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अंतमें पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करनेका धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तुके लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरणकी हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंध में व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टांतमें तो पापका आभासमात्र संभव है। सत्य कहनेसे किसीकी हानि हो जायगी तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्यसे इस संसारमें किसीकी हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्यपानके विषयमें भी यही बात है। या तो इस व्रतमें दवाके लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रतके पीछे शरीरके लिए जोखिम उठानेका भी निश्चय रहना चाहिए। दवाके तौरपर भी शराब न पीनेसे शरीर न रहे तो क्या हुआ? शराब पीनेसे शरीर रहेगा ही, इसका पट्टा कौन लिख सकता है! और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारणसे वह न रहा, तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी! इसके विपरीत, शरीर-रक्षाके लिए भी शराब न पीनेके दृष्टांतका चमत्कारिक प्रभाव शराबकी लतमें फंसे हुए लोगोंपर पड़े तो संसारका कितना लाभ है! शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्मका पालन करना ही है—ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वरकी झांकी कर सकते हैं। व्रत लेना निर्बलतासूचक नहीं, वरन् बलका सूचक है। अमुक बातका करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नामसे

पुकार तो उसमें हर्ज नहीं है; परंतु 'जहांतक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमानका परिचय देता है, भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे। इसमें नम्रताकी गंधतक नहीं है; मैंने तो अपने और बहुतोंके जीवनमें देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा', यह शब्दावली शुभ निश्चयोंमें विषके समान है। 'जहां तक हो सकेगा' वहांतक करनेके मानी हैं पहली ही अड़चनके सामने गिर पड़ना। 'सत्यका पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा' इस वाक्यका कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापारमें यथासंभव अमुक तारीखको अमुक रकम चुका दी जायगी, इस तरहकी चिट्ठी चेक या हुंडीके रूपमें स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह, जहांतक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करनेवालेकी हुंडी, भगवानकी दुकानमें नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चयकी, व्रतकी संपूर्ण मूर्ति है। उसके नियमोंसे एक अणु भी इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सूर्य महाव्रतधारी है; उससे संसारका काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचांगोंकी रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपनेको सुरक्षित पाते हैं। व्यापार-मात्र एक पक्की प्रतिज्ञाके आधारपर चलते हैं। व्यापारी एक-दूसरेके प्रति वादेसे बंधे न हों तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवनको गठनका प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वरदर्शन करनेका प्रश्न हो, वहां व्रतके बिना कैसे काम चल सकता है? इसलिए व्रतकी आवश्यकताके विषयमें हमारे मनमें कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियोंसे

[आश्रमजीवन-विषयक नीति-नियम]

निवेदन

गांधीजीके और हमारे राष्ट्रीय जीवनके अपूर्व अवसरपर उनके पत्रोंका यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ये पत्र आश्रमवासियोंको ही संबोधित किये गए हैं, तथापि जो अपनेको आश्रमवासी मानते हैं या आश्रमजीवनका सद्भावसे अभ्यास करते हैं उनको भी ये बोधप्रद होंगे, इस मान्यतासे यह पत्र-संग्रह प्रकाशित किया गया है।

गतवर्षके जेलवासके समान इस बार भी गांधीजीने आश्रम-वासियोंके नाम साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजनेका नियम जारी रखा। उसके अनुसार आजतक जितने प्रवचन आगए है, उनका यह संग्रह है।

पिछले वर्ष उन्होंने एक विषयका ही लगातार सिलसिलेवार विवेचन किया था। इसके परिणामस्वरूप 'व्रतविचार' या 'मंगलप्रभात' और 'गीताबोध' के १० अध्याय तैयार हो गए थे। इसबार शुरूमें उन्होंने 'गीताबोध'के बाकीके अध्यायोंको पूरा किया। इसके बाद किसी एक विषयपर सिलसिलेवार पत्र लिखनेके बजाय आश्रम जीवन-विषयक छुट-पुट विचारोंको एक दूसरी तरह लिख भेजते रहे। इस प्रकार अलग-अलग दिखाई देनेपर भी इन प्रवचनोंमें एक ही विषयपर अनेक पहलुओंसे चर्चा की गई है। विचक्षण वाचकको इनमें यह मालूम हुए बिना नही रहेगा।

. . . हरिजनोद्धारके लिए की गई अनशनव्रतकी भीष्म-प्रतिज्ञाके आरम्भके समय तकके प्रवचनोंका इस संग्रहमें समावेश हुआ है।

चरखा-द्वादशी सं० १९८८
सत्याग्रहाश्रम
साबरमती

—नारायणदास खु. गांधी
मंत्री, उद्योग-मंदिर

आश्रमवासियोंसे

: १ :

मृत्युमित्र

यरवदा-मंदिर

२९–२–३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेंस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नये, पर नीतिवर्धक विचार राजशक्ति-धारियोंको न रुचे। इससे उसे मौतकी सजा मिली। उस जमानेमें उस देशमें विषपान करके मर जानेकी सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिसको मीराबाईकी तरह जहरका प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिसने जो अंतिम वचन कहे उनके सारपर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिसको हम सुकरात कहते हैं; अरब भी इसी नामसे पुकारते हैं।

सुकरातने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमीका इस लोक या परलोकमें अहित होता ही नही। भले आदमियों और उनके साथियोंका ईश्वर कभी त्याग नहीं करता। फिर मैं तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसीकी भी मौत अचानक नहीं आती। मृत्युदंड मेरे लिए सजा नहीं है। मेरे मरने और उपाधिसे मुक्त होनेका समय आगया है। इसीसे आपने मुझे ज़हरका प्याला दिया है। इसीमें मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग

लगानेवालों या मुझे सजा देनेवालोंके प्रति मेरे मनमें क्रोध नहीं है। उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके।

"महाजन-मंडलसे मेरी एक विनती है : मेरे बेटे अगर भलाईका रास्ता छोड़कर कुमार्गमें जायं और धनके लोभी हो जायं तो जो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें। वे दंभी हो जायं, जैसे न हों वैसे दिखानेकी कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें। आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया।"

अपनी संतानके विषयमें सुकरातकी यह मांग अद्भुत है। जो महाजन-मंडल न्याय करनेको बैठा था वह अहिंसाधर्मको तो जानता ही न था। इससे सुकरातने अपनी संतानके बारेमें उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी संतानको चेताया और उससे उसने क्या आशा रखी थी यह बताया। महाजनोंको मीठी फटकार बताई; क्योंकि उन्होंने सुकरातको उसकी भलमनसीके लिए सजा दी थी। सुकरातने अपने बेटोंको अपने रास्तेपर चलनेकी सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंसके नागरिकोंको बताया वह उसके लड़कोंके लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्तेपर न चलें तो वे दंडके योग्य समझे जायं।

: २ :

शिक्षाके विषयमें कुछ विचार

यरवदा-मंदिर

२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकारका लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहांत १८८०[1] के आसपास हुआ। अधिकांश आश्रम-वासियोंको यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तकका मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवनमें महत्त्वका परिवर्त्तन एक क्षणमें कर डाला। सन् १८७१ में उसने केवल श्रमिक वर्गको सामने रखकर मासिक रूपमें पत्र या लेखमाला लिखना आरंभ किया था। इन पत्रोंकी प्रशंसा मैंने टाल्स्टायके किसी निबंधमें पढ़ी; पर अबतक मैं उसके अंकोंको प्राप्त न कर सका था। रस्किनकी प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्यके विषयपर एक पुस्तक मेरे साथ आई थी, वह मैंने यहां पढ़ी। इसमें भी इन पत्रोंका उल्लेख हुआ है। उसे देखकर मैंने विलायतमें रस्किनकी एक शिष्याको लिखा। वही उक्त पुस्तककी लेखिका है। वह बेचारी गरीब ठहरी! अतः ये पुस्तकें कहांसे भेजती? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रमसे पैसे मंगा लेना। उस भली महिलाने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्रके पास भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' पत्रके संपादक थे। उनसे मैं विलायतमें मिल भी चुका

---

[1] जॉन रस्किनका जन्म १८१९ ई० में और मृत्यु १९०० ई० में हुई।—अनु०

था। रस्किनके उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खंडोंमें प्रकाशित हुए हैं। वे उन्होंने भेज दिये। उनमेंका पहला भाग मैं पढ़ रहा हूं। उसके विचार उत्तम हैं और हमारे बहुतसे विचारोंसे मिलते हैं। यह मेल इतना है कि अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रममें जो कुछ हम आचरण करते हैं वह सब रस्किनके इन निबंधोंसे चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्दका अर्थ तो समझमें आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पाससे लिया गया हो उसका नाम छिपाकर वह अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किनने बहुत लिखा है। उसमेंसे थोड़ा ही इस वक्त देना चाहता हूं। रस्किनका कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिलकुल अक्षरज्ञान न होनेसे कुछ भी होना अच्छा है, उसमें गंभीर भूल है। उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्माकी पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनंतर उसने कहा है कि इसी जगत्में मनुष्यमात्रको तीन पदार्थों और तीन गुणोंकी आवश्यकता है। जो इन्हें पनपाना नहीं जानता वह जीनेका मंत्र ही नहीं जानता। अतः ये छः चीजें ही शिक्षाकी नींवरूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्रको बचपनसे—वह लड़का हो या लड़की—यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी किसे कहना चाहिए, उन्हें किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणोंमें उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेमको गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणोंकी कदर नहीं है, जो सुंदर वस्तुको पहचान नहीं सकता, वह अपने घमंडमें भटकता है और आत्मानंद नहीं

प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नहीं है, अर्थात् जो ईश्वरीय न्यायके विषयमें शंकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुल्लित नहीं रह सकता; और जिसमें प्रेम नहीं, यानी अहिंसा नहीं, जो जीवमात्रको अपना कुटुंबी नहीं मान सकता, वह जीनेका मंत्र कभी साध नहीं सकता।

इस विषयपर रस्किनने अपनी चमत्कारभरी भाषामें बहुत विस्तारसे लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाजके समझने लायक रूपमें लिख सकूं तो अच्छा ही है। आज तो इतनेसे ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही यह कह देना चाहता हूं कि जिन बातों-को हम अपने गंवारू शब्दोंमें सोचते आये हैं और जिन्हें आचारमें उतारनेका यत्न कर रहे हैं लगभग उन्हीं सबको रस्किनने अपनी प्रौढ़ और सुसंस्कृत भाषामें, अंग्रेजीभाषी जनता समझ सके इस रीतिसे, प्रकट किया है। यहां मैंने तुलना दो भिन्न भाषाओंकी नहीं की है, बल्कि दो भाषाशास्त्रियोंकी की है। रस्किनके भाषा-शास्त्रके ज्ञानका मुकाबला मुझ-जैसा आदमी नहीं कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयगा जब कि मातृभाषाका प्रेम बढ़ेगा, उस समय भाषाके पीछे मेहनत करनेवाले विद्वान रस्किनकी प्रभावशाली अंग्रेजी जैसी जोरदार गुजराती लिख सकेंगे।

: ३ :

आकाशदर्शन

१

यरवदा-मंदिर

११–४–३२

सत्यके पुजारीका रस अनंत होता है। सत्यनारायणकी झांकीके लिए वह अपने-आपको कभी बूढ़ा नहीं मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वरके ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्यको ही देखता है, उसके लिए बुढ़ापा विघ्न-रूप नहीं होता। सत्यार्थी अपने ध्येयको ढूंढनेके लिए अमर है, अजर है।

यह सुंदर स्थिति मैं तो बरसोंसे भोग रहा हूं। जिस ज्ञानसे जान पड़े कि मै सत्यदेवके अधिक पास पहुंच रहा हूं उसके पीछे जानेमें बुढ़ापा मुझे बाधक नहीं हुआ। इसकी ताज़ा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाशका सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा तो अंतरमें अनेक बार उपजी; पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगनेकी इजाजत न देंगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन् '२२ के कारावासमें भाई शंकरलालको प्रेरणा करनेवाला बहुत करके मैं ही था। उस विषयकी पुस्तकें मंगाई गईं। भाई शंकरलालने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितनेसे उन्हें संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन् '३०-३१ में काकासाहबका सत्संग मिला। उन्हें इस विषयका अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए

कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१ में कारावासके आखिरी महीनेमें यकायक शौक जगा। बाह्य दृष्टिसे जहां सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मैं क्यों न करूं! पशुकी तरह आंखें महज देखा करें, पर जिसे देखें वह विशाल दृश्य ज्ञानतंतुतक न पहुंचे, यह कैसा दयनीय है! ईश्वरकी महान् लीलाके निरखनेका यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता! यों आकाशको पहचान लेनेकी जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हूं और यहांतक आया हूं कि आश्रमवासियोंको मेरे मनमें उठनेवाली तरंगोंमें साझी बनाये बिना अब नहीं रहा जाता।

हमें बचपनसे यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नामके पंचमहाभूतोंका बना हुआ है। इन सभीके विषयमें हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी इन तत्त्वोंके विषयमें हमें बहुत थोड़ी जानकारी है। इस समय तो हमें आकाशके विषयमें ही विचार करना है।

आकाशके मानी है अवकाश—खाली जगह। हमारे शरीरमें अवकाश न हो तो हम क्षण-भर भी न जी सकें। जो बात शरीरके विषयमें है वही जगतके विषयमें भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनंत आकाशसे घिरी हुई है, हम अपने चारों ओर जो आसमानी रंगकी चीज देखते हैं वह आकाश है, पृथ्वीका छोर—सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लंबी है; पर आकाश पोला है। उसकी धुरी मानें तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनंत आकाशमें पृथ्वी एक रजकणके समान है और उस रजकणपर हम तो रजकणके भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। इस प्रकार शरीररूपसे हम शून्य हैं, यह कहनेमें तनिक भी अतिशयोक्ति या अल्पोक्ति नहीं। हमारे

शरीरके साथ तुलना करते हुए चींटीका शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वीके साथ तुलना करनेमें हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है। तब उसका मोह क्यों हो ! वह छूट जाय तो शोक क्यों करें !

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीरकी भारी कीमत है; क्योंकि वह आत्माका और हम समझें तो परमात्माका—सत्य-नारायणका—निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिलमें बसे तो हम शरीरको विकारका भाजन बनाना भूल जायं; पर अगर हम आकाशके साथ ओत-प्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छताको समझलें तो हमारा सारा घमंड चूर हो जाय। आकाशमें जिन असंख्य दिव्य गणोंके दर्शन होते हैं वे न हों तो हम भी न हों। खगोलवेत्ताओंने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाशविषयक ज्ञान नहींके बराबर है। जितना है वह हमें स्पष्ट रीतिसे बताता है कि आकाशमें सूर्यनारायण एक दिनके लिए भी अपनी अतंद्रित तपश्चर्या बंद कर दें तो हमारा नाश हो जाय। वैसे ही चंद्र अपनी शीत किरणें लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमानसे हम कह सकते हैं कि रात्रिके आकाशमें जो असंख्य तारागण हमें दिखाई देते हैं उन सबका इस जगतको बनाये रखनेमें स्थान है। इस प्रकार इस विश्वमें संपूर्ण प्राणियोंके साथ, संपूर्ण दृश्योंके साथ हमारा बहुत घना संबंध है और हम एक दूसरेके सहारे टिक रहे हैं। अतः हमें अपने आश्रयदाता आकाशमें विचरनेवाले दिव्य-गणोंका थोड़ा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचयका एक विशेष कारण भी है। हमारे यहां कहा-

वत है--"दूरके ढोल सुहावने ।" इसमें बहुत सचाई है । जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्यके पास जाकर हम बैठें तो उसी क्षण भस्म हो जायं । यही बात आकाशमें बसनेवाले दूसरे गणोंकी भी है । अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओंके गुण-दोष हम जानते हैं, इससे कभी-कभी हमें उनसे विरक्ति होती है, दोषोंके स्पर्शसे हम दूषित भी होते हैं, आकाशके देवगणके हम गुण ही जानते हैं, उनको निहारते हम थकते ही नहीं, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नहीं सकता और इन देवोंका ध्यान धरते हुए हमें अपनी कल्पना-शक्ति-को नीतिपोषक विचारोंसे जितनी दूर ले जाना हो, उतनी दूर ले जा सकते हैं ।

इसमें तो शंका ही नही कि आकाशके और अपने बीच हम जितना पर्दा खड़ा करते हैं उतने ही अंशमें अपनी देह, मन और आत्माको हानि पहुंचाते हैं, हम स्वाभाविक रीतिसे रहते हों तो चौबीसौ घंटे आसमानके नीचे ही रहें । यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हों उतने समय रहें । आकाशदर्शन अर्थात् तारा-दर्शन तो रातमें ही हो सकता है और सबसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है । अतः जो इस दर्शनका पूरा लाभ उठाना चाहे उसे तो सीधे आकाशके नीचे ही सोना चाहिए । आसपास ऊंचे मकान या पेड़ हों तो वे इस दर्शनमें विघ्न डालते हैं ।

बच्चोंको और बड़ोंको भी नाटक और उनमें दिखाये जाने-वाले दृश्य बहुत रुचते हैं; पर जिस नाटककी योजना प्रकृतिने हमारे लिए आकाशमें की है उसको मनुष्य-कृत एक भी नाटक नहीं पा सकता । फिर नाटकशालामें आंखें बिगड़ती हैं, फेफड़ोंमें गंदी हवा जाती है, और आचरणके बिगड़नेका भी बहुत डर

रहता है। इस प्राकृतिक नाटकमें तो लाभ-ही-लाभ है। आकाश-को निहारनेसे आंखोंको शांति मिलती है। आकाशके दर्शनके लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेफड़ोंको शुद्ध हवा मिलेगी। आकाशको निहारनेसे किसीका आचरण बिगड़ता आज-तक नहीं सुना गया। ज्यों-ज्यों इस ईश्वरीय चमत्कारका ध्यान किया जाता है त्यों-त्यों आत्माका विकास ही होता है। जिसके मनमें रोज-रातको, सपनेमें, मलिन विचार आते हों, वह बाहर सोकर आकाश-दर्शनमें लीन होनेका यत्न कर देखे। उसे तुरंत निर्दोष निद्राका आनंद मिलेगा। आकाशमें अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वरका मूक स्तवन कर रहे हों। हम जब इस महादर्शनमें तन्मय हो जायंगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पड़ेंगे। जिसके आंखें हों वह इस नित्य-नवीन नृत्यको देखें। जिसके कान हों वह इन अगणित गंधर्वों का मूक गान सुने।

आइये, अब हम इनके बारेमें कुछ जानें या मुझे जो बहुत-थोड़ा मिला है, उसमें सब साथियोंको साझी बनाऊं। सच पूछिये तो पृथ्वी आदिके विषयमें थोड़ा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जायगा। हो सकता है कि मैं जो लिखनेवाला हूं वह सब काकासाहबके संपर्कमें आये हुए आश्रमके बालक जानते हों। ऐसा हो तो अच्छा ही है। मैं आश्रमके छोटे-बड़े, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हूं। उसमें जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिलकुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थनाके बाद तुरंत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इस-में एक बार बीस मिनटसे अधिक समय देनेकी जरूरत नहीं। जो समझेगा वह इसे प्रार्थनाका अंग ही मानेगा। बाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोड़ी ही देरमें उसी

ध्यानमें वह सो जायगा। रातमें नींद टूटे तो फिर थोड़ी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षणमें उसके दर्शन बदला ही करते हैं।

आठ बजे आकाशकी ओर देखिये तो पश्चिममें एक भव्य आकृतिके दर्शन होंगे।
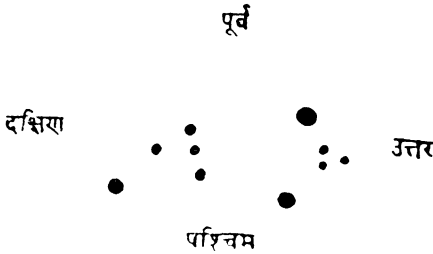
यह आकृति पश्चिममें होगी। मैं पूरबमें सिर रखकर सामने देख रहा हूं। इस तरह देखनेवाला इस आकृतिको भूल सकता ही नहीं। इन दिनों उजला पाख है, इसलिए यह तारामंडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते है। फिर भी यह मंडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखियेको भी उसे ढूंढ़ लेनेमें कठिनाई नहीं होती। इसके विषयमें हमारे यहां और पश्चिममें लोगोंका क्या खयाल है, यह पीछे बताऊंगा। इस वक्त तो इतना ही कहूंगा कि इस मंडलके स्थानका वर्णन वेदमें देखकर लोकमान्य तिलक महाराज वेदके कालकी खोज कर सके थे। आश्रमके पुस्तक-संग्रह-में स्वर्गवासी दीक्षितजीकी पुस्तक है, उसमें तो बहुत बातें बताई गई हैं। मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देनामात्र है, पीछे तो आश्रम-वासियोंसे मैं अधिक सीख सकूंगा। मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वरके

साथ संबंध जोड़नेके एक साधन हो गए हैं। आश्रमवासियोंके लिए भी हों।

"जैसे (चरखेसे) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरिको प्राप्त कर!"[1]

: ४ :

आकाश-दर्शन

२

यरवदा-मंदिर

१८-४-३२

पिछली बार तारामंडलका जो चित्र भेजा है उसके विषयमें अनेक कल्पनाएं है। इस मंडलके चित्रोंमेंसे एक भी संपूर्ण नहीं होता। जितने तारे चित्रमें दिखाई देते हैं उनसे कहीं अधिक उसमें होते है। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाये और जितने तारे खाली आंखसे दिखाई दें उनके चिह्न बना ले। इससे तारोंको पहचाननेकी शक्ति तुरंत बहुत बढ़ जायगी और नकशोंमें जो तस्वीरें आती है उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खींचा हुआ चित्र बढ़िया होगा; क्योंकि अलग-अलग जगहोंसे देखनेमें थोड़ा-थोड़ा फर्क तो पड़ता ही है। हर आदमी नियत स्थानसे नियत समयपर निरीक्षण करे

---

[1] गुजराती सन्तकवि अखा भगत (१६१५-१६७४ इ०) की एक पंक्तिका भाव।—अनु०

तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नकशेके बारेमें और आरंभ करने-वालेके लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रोंकी पहचान कर लें तो फिर कहीं भी हों, अपने इन दिव्य मित्रों या दिव्य गणोंको तुरंत पहचान लेंगे।

मद्रासके 'हिंदू' दैनिकके साथ एक साप्ताहिक निकलता है; बम्बईके 'टाइम्स' के साथ भी निकलता है। दोनोंमें हर महीने दिखाई देनेवाले तारक-मंडलोंके नकशे छपा करते हैं। 'हिंदू' में हर महीनेके पहले हफ्तेमें और 'टाइम्स' में दूसरे हफ्तेमें निकलता है। इनमेंसे कोई नकशा हाथ आ जाय तो उसमें हमें बहुत कुछ मिल जायगा। 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवां या शती अंक निकलनेवाला है, उसमें भाई हीरालाल शाहने इस विषयपर लेख भेजा है। उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है। यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय। मैं तो इस लेखके बाद इस विषयपर अधिक न लिखूंगा। मैं आकाशदर्शन किस रीतिसे कर रहा हूं, इसको यहां थोड़ा अधिक स्पष्ट करूंगा। इससे आगे जाऊं तो इस हफ्तेमें जो दूसरी चीजें लिखनेको हैं वे रह जायंगी। प्रसंगवश कुछ भेज दूं तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्नपर भेजूं।

जिस नक्षत्रका चित्र मैंने दिया है उसका नाम अपने यहां मृग या मृगशीर्ष है। उसीपरसे हमारे अगहन महीनेका नाम मार्गशीर्ष—मगसिर—पड़ा है। हमारे महीनोंके नाम उन नक्षत्रों-के नामपरसे पड़े हैं। मृग-नक्षत्रको पश्चिममें 'ओरायन' कहते हैं। यह शिकारी है। इसके पूरबमें दो सीधी रेखाओंमें बहुत तेजस्वी तारे हैं। उनके शिकारीके कुत्ते होनेकी कल्पना की गई है। जो पश्चिममें है वह बड़ा और जो उत्तरमें है वह छोटा कुत्ता है। पूरब-की ओर और दक्षिणमें शिकारीके चौथे कोनेके तारेके नीचे जो

नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया गया है। कुत्ते उसकी ओर दौड़ते हैं। बीचमें जो तीन तारे हैं वे शिकारीके कमरबंदके तीन रत्न हैं।

ऐसी आकृतियां भी खींची गई हैं। बड़े कुत्तेको हमारे यहां लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारोंको मृगका पेट कहते हैं। उसके दक्षिणमें जो तारा है वह लुब्धकका छोड़ा हुआ बाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोणके बाहरके तीन तारे मृगके सिर हैं। यह सारी कल्पना खासी मनोरंजक है। उसकी उत्पत्तिके विषयमें बहुत लिखा गया है। उसमेंसे बहुत ही थोड़ा मैं पढ़ पाया हूं।

आकाशमें ऐसी आकृति बिलकुल नहीं है। वह हमें जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नहीं है। ये तारे तारे नहीं, बल्कि सूर्यसे भी बड़े सूर्य हैं। करोड़ों मील दूर होनेके कारण वे आकाशमें बूंदकी तरह झलकते हैं। इन सूर्योंके विषयमें हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है; पर अपढ़-से-अपढ़के लिए भी ये तारागण मित्र-के प्रयोजनकी पूर्त्ति करते हैं। क्षण-भर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरंत देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दुःख-दर्द भूल जाय और भगवानकी महिमा गाने लगे। तारोंको वह ईश्वरके दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते हैं और हमें आश्वासन देते हैं। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य हैं, बहुत दूर हैं, आदि बुद्धिके प्रयोग हैं। वे हमें ईश्वरकी ओर ले जानेमें जो सहायता देते हैं वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीतिसे हम जलको अनेक रीतियोंसे पहचानते हैं, पर उस ज्ञानका शायद कोई उपयोग नहीं करते। वह प्राण और शरीरको साफ-सुथरा रखनेकी चीज है, यह ज्ञान और उसका यह उपयोग हमारे लिए बड़े ही कामके हैं और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर

वस्तुतः वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागणके विषयमें है। उनके उपयोग अनेक हैं। मैंने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पड़ा उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है। जान पड़ता है, कुछ ऐसा ही प्राचीन कालसे चलता आ रहा है। पीछे कालक्रमसे अनेक प्रकारके दूसरे वर्णन उसमें मिल गए और आख्यायिकाएं उत्पन्न हुई। इन सबको हम इस विषयमें रुचि बढ़ानेके लिए अवश्य पढ़ें, पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूलें।

मृगके उत्तरमें दो दूसरे मंडल हैं, उनकी पहचान हम कर लें——
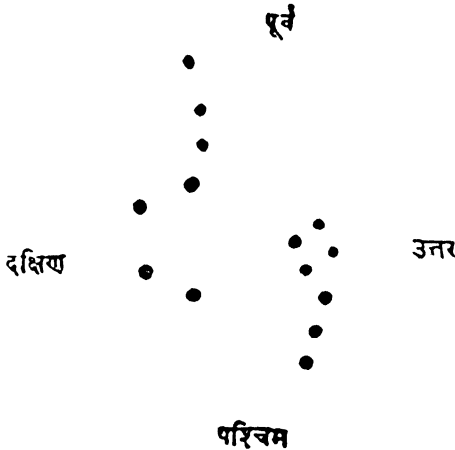
इनमें बड़ा मंडल सप्तर्षि है। छोटेको ध्रुव मत्स्य कहते हैं। दोनोंमें सात-सात तारे दिये हैं, पर सप्तर्षिमें दूसरे बहुतसे हैं। वे 'टाइम्स'

और 'हिंदू' के चित्रोंमें मौजूद हैं। ध्रुव मत्स्यमें दूसरे तारे नहीं दिखाई देते। इन दिनों उजाले पक्षमें तो शायद तीन ही दिखाई देंगे——दो चतुष्कोणके और एक सिरेका——जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमानेमें तो नाव-जहाज चलानेवालोंको बड़ी मदद मिलती थी। ये दोनों मंडल ध्रुवकी प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पड़ते हैं। इन दिनों इनकी गति देखनेका बड़ा आनंद आता है। सारी रात इनका स्थान बदलता रहता है। इसको नोट करते जायं तो इनके मार्गका नकशा खासा कुंडलाकार होगा। पश्चिममें इन्हें बड़ा रीछ और छोटा रीछ कहते हैं। एक पुस्तकमें तो इनके सुंदर चित्र भी मैंने देखे है। बड़े रीछको हलकी उपमा भी देते है। सप्तर्षि रातके घड़ियालका काम देते हैं। थोड़ा अभ्यास हो जाने के बाद सप्तर्षि-की गतिका समय अवश्य जाना जा सकता है।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोग-के सामने मुझे तुच्छ-से लगते है। हमें चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी है वैसे हम तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वरका मूक स्तवन करते जान पड़ते है वैसे हम करें। वे जैसे अपना रास्ता एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ते वैसे हम भी अपना कर्त्तव्य न छोड़ें।

: ५ :

गोशवारेकी आवश्यकता

यरवदा-मंदिर

२५-४-३२

आश्रमका इतिहास लिखते समय मनमें अनेक विचार आते हैं, अपनी अनेक त्रुटियोंकी ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमें समय-समयपर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापारका हर रोज गोशवारा––हिसाब-का खुलासा––तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और बड़ा गोशवारा हर साल बनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा, इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा बनाना उचित है। हरएकको अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाजको सारी संस्थाका। ऐसा न करें तो गोशवारा न बनानेवाले व्यापारीकी तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा। अपने व्रतों, कामों और उद्योगोंमें हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे छूट रहे है, यह हम न जानें तो हम यंत्रकी तरह जड़ बन बन जायंगे और अंतमें यंत्रसे कम काम करेंगे, यानी अपनी हानि करेंगे।

यह गोशवारा हम किस रीतिसे तैयार करें, इसका जवाब मैं कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हूं :

१. हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते हैं? हम यानी हरएक।

२. ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है? कहां-कहां असत्य-

का आचरण हुआ ? उसके लिए उसने क्या किया ? आश्रमने क्या किया ?

३. आश्रमके इतने बरसके जीवनमें हम इस विषयमें आगे बढ़े कि पीछे हटे ?

इस प्रकार सब व्रतोंके विषयमें विचार करके जहां-जहां खोट-खामी दिखाई दे, वहां-वहां उपाय ढूंढ़ें और करें।

कार्यों, उद्योगोंके विषयमें भी यही कर्त्तव्य है। उनके विषयमें तो दूना विचार करना है। आर्थिक दृष्टिसे जमा-खर्च बराबर आता है ? हम मानते है कि भौतिक उद्योगमें अगर दोनों मद बराबर आवें तो यह संभव है कि वह धार्मिक रीतिसे चलाया गया हो; अगर घाटा आवे या नफा रहे तो अवश्य कहीं नीति-भंग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि क्या उस उद्योगके चलानेमें धर्मका ही विचार प्रधानत. रखा गया है ? आश्रममें यह बात आवश्यक है, क्योंकि उसके सारे उद्योग धर्मके, अर्थात् सत्यके, अधीन हैं।

इन दोनों—व्रतों और उद्योगों—के विषयमें ये विचार मनमें आये बिना नहीं रहते :

१. आश्रममें ही एक-दूसरेके बीच सूक्ष्म चोरियां क्यों होती हैं ?

२. ऐसा वक्त कब और कैसे आयगा जब हममें एक-दूसरेका अविश्वास रहे ही नहीं ?

३. आश्रममें अब भी बाहरसे चोर क्यों आते हैं ?

४. हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यों बढ़ रहा है ?

५. हमने आसपासके गांवोंके साथ क्यों संबंध नहीं जोड़ा ? वह किस तरह जोड़ा जा सकता है ?

६. आश्रममें अब भी बीमारी क्यों रहा करती है ?

७. आश्रमके मजदूरवर्गके लिए हमने क्या किया ? वे क्यों आश्रमवासी नहीं बने ? या मजदूर ही आश्रममें क्यों हों ? आश्रममें मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हों ?

ऐसे सवाल अभी और बहुतसे सोच सकता हूं, पर मेरे विचार बता देनेके लिए इतने काफी हैं। मैं चाहता हूं कि छोटे-बड़े सभी विचार करने लग जायं। रोजनामचा रखनेके मेरे आग्रहमें यह हेतु तो था ही।

: ६ :

सप्ताहका सार

यरवदा-मंदिर

२–५–३२

अप्रैल मासके शुद्धिसप्ताहपर भाई भगवानजीका पत्र आया है। उसमें कपासकी खराबीकी ओर मेरा ध्यान खींचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगोंने जान-बूझकर तार[1] बढ़ाकर लिखे हैं। खराबी वह दो तरहकी बताते हैं—एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावलीमें कातनेसे सूतके नम्बर बहुत कम हैं।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हों तो इसको मैं भारी दोष मानता हूं। आश्रमके नामको इससे धब्बा लगता है। गलत लिखनेवालेका यज्ञ ईश्वरकी बहीमें तो लिखा ही नहीं जाता।

---

[1] **अटेरनपर लपेटे हुए ४८ इंच सूत की नाप**

हमारी बहीमें जो तार या गज लिखे गए हों, उनकी कीमत तो कुछ भी नहीं। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखनेसे उसमें घट-बढ़ नहीं होती और सूतकी कीमत तो कुछ आने ही होती है। असली कीमत तो कातनेके पीछे रहनेवाले शुद्ध उद्देश्यकी ही है। यह कीमत हम आंक सकते ही नहीं। यह तो दैवी बहीमें ही हो सकती है; क्योंकि मनुष्यके हेतुको कौन समझ सकता है! फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अंतमें ऐसे यज्ञका सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममें कहीं-न-कहीं मलिनता है। इस दृष्टिसे हरएक अपने-अपने कामका विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूलकर शुद्ध हो जाय। आश्रममें हमसे किसी-की छिपी निगरानी नही हो सकती। बहुत-सा काम विश्वासपर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीतिसे चल भी नहीं सकता। इसलिए सबको अपने धर्मका बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तारके साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार लें। कातनेमें आलस किया था? बेगार टाली थी? वक्त चुराया था? टूटा हुआ सूत फेंक दिया था? यज्ञकी शर्त यह है कि याज्ञिक उसमें तन्मय हो जाय, कार्यमें अपनी सारी होशियारी खर्च करदे।

कोई यह न सोचे कि पूरे बरस चाहे जैसे व्यवहारकर शुद्धि-सप्ताहमें ऊपरके नियमका पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञ-रूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताहमें इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातनेमें अधिक समय दिया करते हैं।

आगेके लिए मैं ये नियम सुझाता हूं:

१. बीस नंबरसे नीचेका सूत काता जाय तो वह यज्ञमें न गिना जाय।

२. सूतकी खराबी नियत मापसे अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस—मजबूती नियत सीमासे नीचे आये तो भी यँज्ञ न गिना जाय।

यज्ञ-कार्य हो कि दूसरा कोई, संख्या या वजनसे सफाई, सचाईकी कीमत ज्यादा होगी। पचास अपंग बैल हमारे सिरपर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास भौंथरी छुरियां शाक नहीं काट सकती। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर काम की पूर्णताकी ओर देनेकी आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताहमें हम इस चीजपर ही ध्यान दें।

मै देखता हूं कि कातनेमें कुछ लोगोंका मन ऊबता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसंद करते हैं। इसमें एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमीको जो काम रोज करना पड़ता है उससे वह ऊबता है और मनको फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मैं न ऊबता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोजका हो जाता है तो वह तीसरा मांगता है। फिर कातनेवालेका ध्यान जाने-बेजाने कताईसे मिलनेवाली थोड़ी मजदूरीकी ओर जाता है। आश्रमकी दृष्टिसे यह दोष है। कातनेकी मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धंधा है जिसे करोड़ों कर सकें और उससे कुछ कमा भी लें। अतः इस कामको व्यापक करनेके लिए हम सब यज्ञरूपमें कातते है। यज्ञमें कल्पना यह है कि ईश्वरार्पण बुद्धिसे काम करते है और फल देना भगवानके हाथ है। इस रहस्यको समझकर कातनेका यज्ञ सबको नित्य उसमें तन्मय होकर करना उचित है।

: ७ :

सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर

९-५-३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अतः मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाईकी तीखी आंखोंने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकड़ीका एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरंत उसका मजाक किया। मणिबहनके अति सुघड़पनका मूल मुझे यहीं मिला। जिस लिफाफे-में मैं आश्रमकी डाक बंद किया करता हूं वह सरदारकी हुनरमन्दी-का एक नमूना है। जिसने इस लिफाफेको न देखा हो वह देख ले। उसमें सुघड़पनके साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहांकी डाकके लिए बहुत लंबे लिफाफेकी जरूरत नहीं होती, इसलिए एकके दो हो जाते हैं। जो बादामी कागज पुड़ियों आदिमें आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफोंके लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाईकी आलोचनापर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखेसे काम लेनेके लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा ही करते थे कि बाएं हाथसे चरखेका चक्र भी न घुमाओ। उसे पांवसे चलाऊं तो चरखेका एक दिन भी शायद खराब न हो। अतः उसपर जल्दी काबू पा लेनेकी धुनमें मैंने जालेकी तह चढ़ी रहने दी। आज दाहिने हाथसे काम कर सकनेकी हिम्मत हुई तो चरखेकी खराबीके ऊपर निगाह गई। एकके बजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतलके मोढ़ियेपर तेल

और धूलका मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढईपर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्र-नारायणका चक्र है, उनकी पूजाकी यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढ़ाकर हम दरिद्रनारायणका अनादर करते हैं। सामान्य रीतिसे मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानोंकी सफाई रखी जाती है। हम तो मानते हैं कि हरएक स्थान मंदिर है। एक भी कोना नहीं है जहां ईश्वर न हो। इसलिए हमारे मतसे तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मंदिर हैं और मंदिरकी तरह साफ-सुथरे रहने चाहिए। तब फिर चरखेका तो कहना ही क्या ! चरखेकी शक्तिको हम सचमुच ही मानते हों तो बच्चे से लगाकर बूढ़तक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्लीकी सफाईके बारेमें तो मैं लिख ही चुका हूं। इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ़ महीने पहले उसने दो बच्चे जने। उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है। तीनों शायद ही कभी अलग देखनेमें आते हों। जब बच्चे चाहते हैं तब मां दूध पिलाती है। दोनों साथ-साथ सटकर दौड़ते हैं, यह दृश्य भव्य होता है। मांको इसमें कोई शर्म नहीं लगती। बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नहीं करती। बच्चे चलने-फिरने और खेलने-वाले हुए कि मांने तुरंत उन्हें शौचका नियम सिखाया। खुद एकांत-में जाकर नरम जमीन पंजोंसे खोदकर गढ़ा किया और बच्चोंको उसके ऊपर बैठाया, फिर धूलसे मैलेको ठीक तौरसे ढंककर जमीन जैसी थी वैसी कर दी। अब बच्चे रोज इसी रीतिसे निबटते हैं। वे भाई-बहन हैं। चार दिन पहले उनमेंसे एक जमीन खोदने लगा; पर वह कठिन थी। दूसरा मददको पहुंचा और दोनोंने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढ़ा खोद लिया। शौच हो लेनेके बाद जमीन ढंक-

कर चलते बने । ऐसे प्राणी—छोटे-बड़े—जो कर सकते हैं वह हम सहज ही क्यों न करें !

शीर्षकमें चार शब्द एक ही भावको प्रकट करनेके लिए व्यवहार किये गए हैं । हमें आत्माका बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनोंकी होनी चाहिए । पर अंदरकी सफाई तो सचाई है । सचाई ही सबसे बड़ी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है । हम बाहरसे साफ-सुथरे हों और अंतर मैला हो तो या तो यह आडंबरमात्र है, या दंभ है, विषयभोगकी निशानी है । इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषोंकी स्वच्छता अंतरकी पवित्रताका लक्षणरूप ही हो तो कामकी है ।

हमारा शरीर हमारा महामंदिर है । हम उसमें बाहरसे कोई मैल न भरें । अंदर मनको कुविचारोंसे मलिन न करें । इस शौच-को साधनेवाला अपने हरएक काममें स्वच्छता प्रकट करेगा । यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए ।

: ८ :

अद्भुत त्याग

यरवदा-मंदिर

१५—५—३२

अक्सर सामान्य पाठ्यपुस्तकोंसे हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं । इन दिनों मैं उर्दूकी रीडरें पढ़ रहा हूं । उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं । ऐसे एक पाठका असर मुझपर तो भर-पूर हुआ है । दूसरोंपर भी वैसा ही हो सकता है । अतः उसका सार यहां दिये देता हूं ।

पैगंबर साहबके देहांतके बाद कुछ ही बरसोंमें अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्षके हजारों योद्धा खेत रहे, बहुतसे जख्मी भी हुए। शाम होनेपर आमतौरसे लड़ाई भी बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तब अरब-सेनामें एक अरब अपने चाचाके बेटेको ढूंढ़ने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानीके लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर इस भाईने अपने साथ लोटा-भर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियोंके बीच वह लालटेन लिए देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानीकी रट लग रही थी। जख्मोंसे खून बह रहा था। उसके बचनेकी आशा थोड़ी ही थी। भाईने पानीका लोटा उसके पास रख दिया। इतनेमें किसी दूसरे घायलकी 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी। अतः उस दयालु सिपाहीने अपने भाईसे कहा, "पहले उस घायलको पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओरसे आवाज आ रही थी, उस ओर यह भाई तेजीसे कदम बढ़ाकर पहुंचा।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीनेको ही था कि इतनेमें तीसरी दिशासे पानीकी पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाहीके बराबर ही परोपकारी था। अतः बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारेसे समझाया कि पहले जहांसे पुकार आई है वहां जाकर पानी पिला आओ। निःश्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेगसे दौड़कर जहांसे आर्त्तनाद आ रहा था वहां पहुंचा। इतनेमें इस घायल सिपाहीने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी न मिला! अतः यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था वहां

झटपट पहुंचा, पर देखता है तो उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दु खभरे हृदयसे खुदाकी बंदगी करता हुआ वह अपने भाईके पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बंद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलोंमें किसीने भी पानी न पाया, पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहासके पन्नोंमें ऐसे निर्मल त्यागके दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलमसे किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं, पर ऊपर जो अद्‌भुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देनेका हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषोंके जैसा त्य.ग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षाका समय आये तब दूसरेको पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरेको जिलानेमें खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरेसे कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानीकी परीक्षासे कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवाकी है। हवाके बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवासे घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब आलमारी-जैसी कोठरीके अंदर बहुतसे आदमी ठूंस दिये गए हों, एक ही सूराखसे थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायं। हम भगवानसे प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवाको जाने दें।

हवासे दूसरे नंबरपर पानीकी आवश्यकता––प्यास है। पानीके प्यालेके लिए मनुष्योंके एक दूसरेसे लड़ने-झगड़नेकी बात सुननेमें आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौकेपर उक्त बहादुर अरबोंका त्याग हममें आये; पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो

किसी एककी ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियोंको आगे करके खुद पीछे रहते हैं? न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसाका पहला पाठ हमें नहीं आता।

: ६ :

बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मंदिर

२२–५–३२

यहांकी बिल्लीकी सफाई-पसंदीके बारेमें तो मैं लिख चुका हूं। उसको और उसके बच्चों को देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्लीके बच्चोंको जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता बिना किसी उपद्रव के और बिना मुंहसे एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते कर दिखाती है। बच्चे तुरंत उसे करने लग जाते हैं। इस रीतिसे वे दौड़ना, पेड़पर चढ़ना, सम्हलकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीरको चाटकर साफ कर लेना सीख गए। मां जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गए हैं।

मां बच्चोंको अक्सर बेकार भटकनेके लिए छोड़ती नहीं। उसका प्रेम मनुष्यके प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चोंको बगलमें लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते हैं तब खुद लेट

जाती है और उन्हें दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चोंके पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते हैं। छोटी-सी रकाबीमें तीनों दूध पीते हैं। अक्सर मां देखा करती है, पर खुद उसमें हिस्सा नहीं बंटाती। वह बच्चोंके साथ बच्चोंकी तरह क्रीड़ा करती है, कुश्ती लड़ती है।

इससे मैंने यह सार निकाला कि हम बच्चोंको शिक्षा देना चाहते हैं तो जो बात उनसे कराना चाहते हों वह खुद करनी चाहिए। बच्चोंमें अनुकरणकी भारी शक्ति होती है। मुंहसे कहा हुआ वे कम समझेंगे। हम उन्हें सत्य सिखाना चाहते हों तो खुद हमें बहुत सावधानीसे सत्यका पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमें परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीतिके विषयमें है वही शारीरिक कार्योंके विषयमें भी है।

इस रीतिसे विचार करते हुए हम तुरंत देख सकते हैं कि आज जिस रीतिसे शिक्षा दी जाती है उसमें पैसे और समयके व्ययके परिमाणमें फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि बड़ी उम्रको पहुंचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर हैं। इस स्थान के साथ न्याय नहीं होता। इसका उचित आदर नहीं किया जाता। इससे शिक्षाने वक्ररूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओंको बुद्धि नहीं है या मनुष्यकी जैसी बुद्धि नहीं है। वे जो करते हैं उससे तो हमें बहुत आगे जाना चाहिए; पर इसके शक्य होनेके पहले भावी संतानकी नीतिके रक्षक होनेके नाते, हमें खुद उसका पालन करना होगा। जिस बातको हम चाहते हों कि आनेवाली संतानें सीखें उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रममें जो लोग शिक्षक और शिक्षिका हैं वे इस दृष्टिसे

विचार करने लगें और जहां अमल करना उचित हो वहां करने लगें, इसी उद्देश्यसे यह लेख लिखा है।

: १० :

मृत्युका बोध

यरवदा-मंदिर
३०–५–३२

आश्रममें अबतक नीचे लिखी मौतें होनेकी बात मुझे याद है: फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसंत, इमामसाहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरीकी मौत तो ऐसी हुई जो आश्रमको शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरीपर आश्रमके संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपनकी बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगलमें सारी रात मैं ही बैठा रहा। सवेरे मुझे गुरुकुल जानेके लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथीपर सुलाकर, पत्थरका कलेजा करके मैंने स्टेशनका रास्ता लिया। फकीरीके बापने फकीरी और उसके तीन भाइयोंको यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों-के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयोंको भी मैं खो बैठा।

ब्रजलाल बड़ी उम्र में, शुद्ध सेवाभावसे आश्रममें आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गए

और आश्रमके लिए शोभारूप हुए। एक लड़केका घड़ा कुएं से निकालते हुए डोरमें फंसकर फिसल गए और प्राण तजे।

गीता शांतिसे गीताका पाठ सुनती हुई चली गई। मेघजी नटखट लड़का माना जाता था; पर बीमारी में उसने अद्भुत शांति रखी। बच्चे अक्सर बीमारीमें बहुत हैरान होते हैं और पास रहनेवालोंको हैरान करते हैं। मेघजीको लगभग आदर्श रोगी कह सकते हैं। वसंतने बिलकुल सेवा ली ही नहीं। प्राणघातक चेचकने एक या दो दिनमें ही जान ले ली। वसंतकी मृत्यु पंडितजी और लक्ष्मीबहनकी कठिन परीक्षा थी, उसमें वे पास हुए।

मगनलालके विषयमें क्या कहूं! सच पूछिये तो यह गिनती आश्रममें हुई मौतोंकी है, इसलिए मगनलालका नाम यहां न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है! उन्होंने आश्रमके लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्निमें तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्निमें तपे और कसौटीपर सौ फी-सदी खरे उतरकर दुनियासे कूच कर गए। आश्रममें जो कोई भी है वह मगनलालकी सेवाकी गवाही देता है।

इमामसाहबका अकेला ही मुसलमान-कुटुंब अनन्य भक्तिसे आश्रममें बसा। उन्होंने मृत्युसे हमारे और मुसलमानोंके बीच न टूटनेवाली गांठ बांध दी है। इमामसाहब अपने-आपको इसलामका प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूपमें आश्रममें आये। (यहां अमीनाके दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारेमें कोई कहने लायक बात नहीं। उनकी मृत्यु हमें संयमकी आवश्यकताका पाठ अवश्य पढ़ाती है।)

गंगादेवीका चेहरा अब भी मेरी आंखोंके सामने फिरा करता है, उनकी बोलीकी भनक मेरे कानोंमें पड़ती है। उनके स्मरणोंको

याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवनसे हम सबको और बहनोंको खास तौरसे बहुत सबक सीखने हैं। वह लगभग निरक्षर होनेपर भी ज्ञानी थीं। हवा-पानी बदलनेके लिए जाने लायक होनेपर भी स्वेच्छासे जानेसे अन्ततक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी सम्हाल उन्होंने अपने बच्चे मानकर की। उन्होंने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीनेका उल्लास न था, मरनेका भय न था—उन्होंने हँसते हुए मृत्युको गले लगाया। उन्होंने मरनेकी कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीनेकी कला है, वैसे ही मरनेकी भी कला है।

इन सभी मृत्युओंका स्मरण अपनी जागृतिके लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडलमें कण-समान है। उस कणके ऊपर हम देहरूपमें तुच्छ कण हैं। हम एक बिलमें रहनेवाली चींटियों को गिननेमें असमर्थ हैं। चींटीसे छोटे जंतुओंको तो हम देख भी नहीं सकते। विराट् पुरुषके सामने तो हम अदृश्य जंतुसे भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देहको जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरशः सत्य है। उसका मोह क्या! उसके लिए एक भी प्राणीको हम क्यों दुःख दें! कांचसे भी कमजोर—जरा-सी चोटसे टूट जानेवाली—देहको बनाये रखनेके लिए इतना उपद्रव क्यों मचाएं! मौतके मानी हैं इस देहसे जीवका उड़ जाना। इस मौतका दर किसलिए! उसका क्षण दूर रखनेके लिए यह महा-प्रपंच क्यों! इन बातोंपर फिर-फिर विचारकर, छोटे-बड़े सब, दिलसे मौतका डर निकाल दें और देहमें रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवाके कार्यमें उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करनेकी शक्ति हममें आये, इसके लिए नित्य गीताके दूसरे अध्यायके अंतिम उन्नीस श्लोक हमें रटने

चाहिए। उनकी रटन दिलसे हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है।

'पुनश्च—यह लेख लिखा जा चुकनेके बाद महादेवने फातिमा काकी और बालजीकी माताजीके संस्मरण दिये हैं; पर मुझे जो सार खींचना था उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूं। बाकीकी तीनों मौतोंके बारेमें जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्य-स्मरण ही है।

: ११ :

तितिक्षा और यज्ञके विषयमें

यरवदा-मंदिर

९-६-३२

कोढ़से पीड़ित एक भाईने नीचे लिखे हुए उद्‌गार प्रकट किये हैं—

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियोंके लिए आसन, प्रणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करनेके बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोगके लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादिके पाठ में, भजन गानेमें, ध्यानमें और कम-से-कम ५०० गज सूत कातनेमें मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षाका अर्थ तो यह है—"सब दुखोंको मनमें बिना विरोध किये, बिना चिंता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने-आपमें उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञकार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नही। मुझ-जैसे आदमीसे दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता;

इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वरकृपासे खुले हुए हैं और इनसे आनंद प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मनमें यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिलकुल हो ही न सके तो? शास्त्र तो पुकार-पुकार कर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है और जगतके लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधिसे इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकारका यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरोंकी सेवापर ही टिक रहा हो, तो ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है? किसी-किसी शास्त्रमें यह भी पढ़ा है कि जब आदमीको ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानीमे डूबकर या ऐसे ही किसी और उपायसे प्राणत्याग करे।"

यह एक सुंदर पत्रका मेरी भाषामें किया हुआ खुलासा है। इस पत्रसे अपने लोगोंके लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाईने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपनेमें उत्पन्न करें और रोगसे पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें। सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रममें तो पद-पदपर हम इन्हें सुनते हैं; पर जब किसी अनुभवीकी कलमसे यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़से पीड़ित जनोंसे ऐसी भाषा और ऐसे अनुभवकी आशा हम नहीं रखते। आमतौरसे ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीजका अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्रका सार मैंने आश्रमवासियोंके लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने-योग्य है।

यज्ञका अर्थ हम परोपकारके लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं; पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीरसे अशक्त है वह यज्ञहीन है। जो शरीरसे सर्वथा अशक्त है वह अपने मानसिक बलसे अनेक प्रकारकी सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थिति-की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके, वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञकर्म करनेकी तीव्र इच्छा हो। देहके विषयमें उदासीनता आ गई हो, दूसरोंकी सेवा लेनेसे दुःख होता हो, बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने-आपको इतमीनान हो गया हो। मेरा खयाल है कि ऐसी हालतमें जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राणत्याग करनेका पूर्ण अधिकार है; धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवालेको आघात पहुंचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवालेके मुंहमें दूसरेके लिए प्राणत्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा; और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नहीं, जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीनेकी तृष्णा घट जाय और मृत्युका भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोगके समय प्राणत्यागको धर्म माने तो यह माननेके लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

: १२ :

प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१९–६–३२

प्रार्थना आश्रमका एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीजको हमें ठीक तौरसे समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिये। भोजन करते समय आमतौरसे हम किसीको सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना, भोजनसे करोड़ गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोए तो यह अति दया-जनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्यको भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीरके लिए लाभदायक होता है। प्रार्थनाका छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थनामें सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचारको जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीरसे हाजिरी दी उसकी गिनती दंभमें होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोष किया; प्रार्थना छोड़ी और समाजको ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रतका भंग।

पर हमारे न चाहनेपर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा? ऐसी बात होती ही नहीं। अगर हम खाटसे उठकर सीधे प्रार्थनामें जायं तब तो वहां ऊंघेंगे ही। प्रार्थनामें जानेके पहले जाग्रत हो जाने, दातुन करने और ताजा रहनेका निश्चय करना चाहिए। प्रार्थनामें एक दूसरेसे सटकर न बैठना चाहिए। सोंटेकी

तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाजसे, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम ले। इतनेपर भी शरीर काबूमें न रहे तो खड़ा हो जाय। छोटा हो या बड़ा, इसमें किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटानेके लिए, बड़ोंको चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब-तब खड़े हो जाया करें।

प्रार्थनामें जो कुछ कहा जाय उसे तुरन्त सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

: १३ :

अहिंसाका पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

२५-६-३२

सर्पको मारें या नहीं ? स्त्रीके ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारीको मारें या नहीं ? खेतमें जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलायें या नहीं ? अहिंसाका उपासक इन प्रश्नोंको हल करनेमें न लगे। इन गुत्थियोंको जब सुलझाना होगा तब वे अपने-आप सुलझ जायंगी, इस भुलावेमें पड़ना अहिंसाको बिसर जानेके बराबर है।

अहिंसाके पालनका जिसको उत्साह हो वह अपने अंतरमें और अपने पड़ोसियोंको देखे। अगर उसके मनमें द्वेष भरा हो तो

समझे कि वह अहिंसाकी पहली सीढ़ीपर भी नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथीके साथ वह अहिंसाका पालन न करता हो तो वह अहिंसासे हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथीका तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली? उसे कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली? अपने काममें चोरी करके साथीके ऊपर बोझ डाला? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया; प्यासे बटोहियोंने मुझसे पानी मांगा, मैंने न दिया। मेहमान आये उनका नमस्कारसे भी सत्कार न किया; मजदूरका तिरस्कार किया; उसके ऊपर बिना विचारे काम लादता रहा; बैलको पैना मारता रहा; रसोईमें भात कच्चा था इससे खीझा—ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्यके व्यवहारमें हम स्वाभाविक रीतिसे अहिंसाका पालन न करें तो दूसरे विषयोंमें हम अहिंसाका पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातोंमें उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षणके कार्यमें, प्रतिक्षणके विचारमें हो रही है। जो कौड़ीकी फिक्र करेगा उसकी कोड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ीकी परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कोड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

: १४ :

सत्यका पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर
३–७–३२

जो बात अहिंसाकी है वही सत्यकी समझिये। गायको बचानेके लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझनमें पड़कर अपनी नजरके नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्यकी साधना न हो सकेगी; यों गहरे पानीमें बैठना सत्यको ढांकनेका रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्यका पालन करें, तो कठिन अवसरोंपर क्या करना रोगा, इसका ज्ञान हमें अपने आप हो जायगा।

इस दृष्टिसे हममेंसे हरएकको केवल अपने आपको ही देखना है। अपने विचारसे मैं किसीको ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलानेकी इच्छासे जो गुण मुझमें नहीं हैं उन्हें दिखानेकी कोशिश करता हूं ? बोलनेमें अतिशयोक्ति करता हूं ? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाबमें बातको उड़ा देता हूं ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं ? इनमेंसे कुछ भी करते हैं तो हम असत्यका आचरण करते हैं, यों हरएकको रोज अपने-आपसे हिसाब लेकर अपने-आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलनेकी ही आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंहसे निकल ही न सके, वह भले ही अपने-आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो

प्रयत्न करके ही सत्यका आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीतिसे यही या इस तरहके जितने सूझें उतने सवालोंका जवाब रोज अपने-आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने-आपमें हुआ परिवर्त्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

: १५ :

विद्याभ्यास

यरवदा-मंदिर

१०–७–३२

आश्रमका इतिहास लिखते हुए शिक्षाके विषयमें जो विचार प्रधान रूपसे मेरे मनमें चल रहे हैं उनका निचोड़ दिये देता हूं। आश्रममें कितने लोगोंको वाचन-शिक्षण––पढ़ाईकी तालीम––की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमीको देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रमके साथ जुड़ी ही रहेगी। उसके कारणकी चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमें इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यासका अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करनेकी रीति नहीं जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टिसे प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-करानेकी रीतिमें बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्माको, अपने-आपको, ईश्वरको, सत्यको पहचानें। इस पहचानके लिए किसीको

साहित्यज्ञानकी आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र-की, किसीको कलाकी; पर विद्यामात्रका उद्देश्य आत्मदर्शन होना चाहिए। आश्रममें यह है। उसकी दृष्टिसे हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थमें शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शनके उद्देश्यके बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीतिसे चलें तो वे आजीविकाके या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्या-भ्यास न होंगे। विद्याभ्यासके पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है। जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे-से-छोटा काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझनेका प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर कामका होता है। खाना पकानेका, सफाईका, बढ़ईके कामका, कताईका। जो हरएक उद्योग विद्यार्थीकी दृष्टिसे चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरएक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमें शिक्षाके लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन—सत्य-दर्शन—के भावसे आश्रममें बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीजमें वह निपुण है उसके विषयमें वह शिक्षक है; जो उसको सीखना है, उसके विषयमें विद्यार्थी है। जिस विषयका हमें अपने पड़ोसीकी अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसीको बिना किसी संकोचके देते ही रहें और जिसमें पड़ोसीको अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोचके लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकोंका टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमोंके पालनमें

बढ़ते जायं त्यों-त्यों हमारी विद्या—सत्य-दर्शनकी शक्ति—बढ़ती ही जायगी।

तब अक्षरज्ञानका क्या हो? यह प्रश्न अब रहता ही नहीं। जो बात अन्य कार्योंके विषयमें है वही अक्षरज्ञानके विषयमें है। ऊपरके विवेचनसे एक वहमकी अर्थात् शिक्षाशाला रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षकके—भ्रमकी जड़ कट जाती है। हमें अक्षर-ज्ञानकी जिज्ञासा हो तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्नसे प्राप्त करना है। आश्रममें उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौरसे समझा सका होऊं; तो अक्षरज्ञानकी समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरोंको यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

: १६ :

व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१७—७—३२

व्यक्तिगत प्रार्थनाके विषयमें मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्त्वके विषयमें फिर कुछ लिखनेकी आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थनामें जो रस पैदा नहीं होता, उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थनाकी आवश्यकताका अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थनाकी व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थनामेंसे ही हुई है। व्यक्तिको प्रार्थनाकी भूख न हो तो समाजको कहांसे हो सकती है! सामाजिक प्रार्थनाका उपयोग भी व्यक्तिके लाभके

लिए है। व्यक्तिके आत्म-दर्शनमें—आत्मशुद्धिमें—सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थनाका मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्यों ही समझने लगे, माताको चाहिए कि तुरंत उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मोंमें यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थनाके दो समय तो पक्के हैं: सवेरे उठते ही अन्तर्यामी-को याद करना और रातमें आंख मूंदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जाग्रत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रियाके संपादनमें अन्तर्यामीको याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवालेसे बुरा काम तो होगा ही नहीं और अंतमें उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचारका ईश्वरको साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा, यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है, यों जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है उसके हृदयमें निरंतर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थनाके लिए खास मंत्र या भजनकी जरूरत नहीं होती। यद्यपि प्रत्येक क्रियाके आरंभ और अंतके लिए मंत्र देखनेमें आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नामसे, चाहे जिस रीतिसे, चाहे जिस स्थितिमें भगवानको याद करना है। ऐसा करनेकी आदत बहुत थोड़ोंको ही होती है। बहुतोंको हो तो दुनिया-में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपसका व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थितिको पहुंचनेके लिए हर आदमीको जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए; दूसरे वक्त भी खुद बांध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अंतमें हर सांससे राम-नाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थनामें वक्त बिलकुल नहीं जाता। उसमें वक्तकी जरूरत नहीं, सचेत रहनेकी जरूरत है। जैसे आंख मूंदनेमें

समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थनामें भी वह जाता नहीं मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं; वैसे ही प्रार्थना हृदयमें चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवालेको याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनताको बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात् प्रार्थनाके समय उसको मलिनताका त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गंदा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले, तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वरके सामने भी गंदा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर कामको देखता है, हर विचारको जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अंतमें ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

: १७ :

देख-रेखकी अनावश्यकता

यरवदा-मंदिर

२४-७-३२

यह शीर्षक चौंकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नहीं है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेखके अपना काम-काज चला सकते हैं। हां, यह आशय अवश्य हैं कि देख-रेख घटाते जाने और अंतमें उसको बिलकुल ही दूर कर देनेका उपाय सुझाये।

धार्मिक संस्थामें देख-रेखकी जितनी जरूरत पड़े, उतनी धर्मकी न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्मका—आत्माका—घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमें किसकी देख-रेख रखनी है! जिसने रसोई या पाखानेकी सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने-आप ठीक तौरसे अपना काम क्यों न करे! करेगा, यह विश्वास हम क्यों न रखें! जो निगरानीके बिना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए। हमारे रोजके कामका आत्म-परीक्षण हमारी देख-रेख है।

यहां देख-रेखका अर्थ समझ लेना चाहिए। बच्चेको तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नहीं, इसलिए सौंपे हुए कामको बताना जरूरी होता है। बड़ा भी, उसे कोई खास काम न आता हो तो देख-रेख मांगता है, चाहता है। सच पूछिये तो इस तरहकी देख-रेख, देख-रेख नहीं, बल्कि शिक्षककी सहायता है। इस सहायताके सहारे नया सीखनेवाला आगे बढ़ता है।

पर जो देख-रेख रखवाली के रूपमें है, वह दोषपूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौरसे करता है या नहीं, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चोंकी भी ऐसी निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराईसे निकल जानेका रास्ता हमें ढूंढ़ना चाहिए।

इस तलाशकी पहली सीढ़ी यह है: जहां-जहां देख-रेख रखी जाती हो उन कार्योंको नोट कर लो। उनमें कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेकपर छोड़ दो। संस्थापक और दूसरोंको इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चोंको भी ईश्वरकी उपस्थितिका भान अभीसे होना चाहिए। यह कोई वहमकी चीज़ नहीं

है, अनिश्चित नहीं है। अपने अस्तित्वपर अपने निजी अस्तित्वका जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वासकी यह बात है।

इस सुझावपर सब लोग विचार करते रहें और उसपर जहां-तक अमल करना शक्य है वहांतक करना अपना धर्म है।

: १८ :

गीता कंठ करो !

यरवदा-मंदिर

३१-७-३२

गीताको कंठ करनेके विषयमें मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बातको बार-बार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती; इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है; क्योंकि एक बार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीताका मनन तो बरसोंसे चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छायाके नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराईमें पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए, यद्यपि मुझे सहज ही इसका संयोग मिल जाय तो गीता कंठ करनेका प्रयत्न आरंभ कर दूं।

यहां गीताका अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता,

अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममेंसे बहुतोंका आधार गीता है, इसलिए मैंने गीताका नाम लिया है। पर अमतूल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीताके बदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हों वे गुजराती या हिंदीमें कंठ करें। जिन्हें गीतापर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्मग्रंथपर हो वे उसे कंठ करें।

और कंठ करनेका अर्थ भी समझ लीजिये। जिस चीजको हम कंठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करनेका हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तोंका घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आंख चली जाय, हम वाक्शक्तिसे रहित हो जायं; पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकटका साथी होगा।

दुनियाका अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे—हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभवको हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशोंमें हमारी श्रद्धाकी परीक्षा है।

: १६ :

वाचन और विचार

१

यरवदा-मंदिर

१४-८-३२

पाठशालाओंमें हम पढ़ते हैं—'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[1] यह उक्ति शब्दशः सत्य है। हमें किताबें पढ़नेका शौक हो तो यह अच्छा कहा जायगा। आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जायगा; पर जो खाली-खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाईके एवजमें कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकारका रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलतः पढ़ी हुई चीजपर अमल वे क्यों करने लगे! इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाईसे अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करनेकी जिम्मेदारी उठानेके योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़नेको हमेशा नहीं मिल सकता। यह देखनेमें आता है कि जिसे पढ़नेकी आदत पड़ गई हो उसे पढ़नेको

---

[1] 'भणतर मिथ्या वगर विचार।'

न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करनेकी आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अतः उसे परेशानीमें नहीं पड़ना पड़ता।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैंने जान-बूझकर किया है। सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं। वह तो पागलपन है। कितने ही विचारोंके भंवरमें पड़कर निराश हो जाते और आत्मघात भी कर बैठते हैं। ऐसे विचारकी बात यहां नहीं की जा रही है। इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुएपर विचार करनेतक है। मान लीजिये कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझमें आया हो तो उसे समझना--यह विचार-पद्धति कही जायगी। यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टांत लिया है। इसमेंसे हरएक अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंतमें आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

: २० :

वाचन और विचार

२

यरवदा-मंदिर

२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है!"--अरे मुसाफिर, उठ! सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो

तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरेके समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आपसे पूछता है---मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा हुआके मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्तिसे अनेक अर्थ निकालले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वरपर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रातके मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल---लापरवाह---रहता है उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्तिका ध्यान मनुष्यके लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कण्ठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवालेके लिए वह बोझ-रूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबानपर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवनमें नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

: २१ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

१

यरवदा-मंदिर
२८-८-३२

वाचन और विचारके विषयमें तो मैं लिख चुका। आज कार्य और विचारके विषयमें थोड़ा लिखता हूं। मेरी दृष्टिसे विचार करनेकी कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीतिसे सज जायं।

जिस स्त्रीने नेवलेके मुंहमें लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोड़ा, उसने बहुत ही अविचारका काम किया और अंत में अपने बच्चेको बचानेवालेका वध करनेके लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिंदगीभर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाबमें लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टांत तो अंतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूलविषयपर ठीक बैठ सकता है। आश्रममें जितने काम हम करते हैं उतने विचारपूर्वक करें तो शांति बढ़े, करनेवालेकी दक्षता बढ़े, बहुत-सा वक्त बचे और काममें नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवरके जरिए रहट चलाते हैं। जानवरको बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है; पर उसके ज्ञानमें वृद्धि नहीं होती, अपने काममें उसे रस नहीं आता। आदमी सिरपर सवार न हो तो जानवर रहटकी चर्खी घुमाये नहीं। पर हम तो मनुष्य हैं! मनुष्यके मानी हैं विचार

करनेवाला, ज्ञानवान। हमें पशुकी भांति तो नहीं रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते हैं। विचारके बिना करें तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटें। विचारपूर्वक करें तो जानेंगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करनेके मानी हैं पूरी सफाई करना, पाखानेको ठीक तौरसे ढकना, साफ करनेके औजारोंको साफ रखना, पाखानेकी जांच करना, उसमें खून हो, बदबू हो, कीड़े हों तो समझें कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा लें। हरएक पाखानेका कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमें होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूलसे ठीक तौरसे ढका नहीं गया है, मैला बाहर पड़ा है, पेशाब भी नीचे पड़ा है, तो यह दोष करनेवालेको ढूंढ़ निकालें और उसको विनयपूर्वक समझावें। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवाभावसे इस कामको करता है। इसलिए ज्यों-ज्यों अपने कार्यमें विचारसे काम लेता जायगा त्यों-त्यों वह सुधरेगा, सहल होगा और मन ऊबनेके बजाय उसमें रस आवेगा। पाखानेके बारेमें जितनी बातें सोची जा सकती हैं। सब यहां नहीं दी हैं, उनका नमूना-भर दे दिया है।

कताईके यज्ञको लें तो उसके विषयमें भी यदि विचारमय काम हो तो हमें उसमेंसे रसके घूंट मिलेंगे और कताई की कलाकी प्रगतिकी हद ही न होगी। सब विचारपूर्वक कातें तो हम बहुतेरी नई खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकालें।

यही बात प्रार्थनाकी है। प्रार्थना क्या है? किसलिए की जाती है? मौन क्यों रखते हैं? प्रार्थना संस्कृतमें क्यों हो? गुजराती, मराठी या हिंदीमें क्यों न की जाय? आदि अनेक बातोंका विचार

करके हम प्रार्थनाको प्रचंड शक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषयमें कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते हैं।

योगः कर्मसु कौशलम्——यह गीताका विचार प्रौढ़ है। योगका अर्थ है जुड़ना। ईश्वरके साथ जुड़ जानेका नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशलसे वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवालेको अपने कर्ममें तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकलीपर कातनेवाले विचारकने चरखेका महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले विचारक यांत्रिकने हजारों तकलीवाला चरखा बनाया। मेरी दृष्टिसे इसमें उसकी बुद्धि खूब चली; पर हृदय नहीं चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यताकी तुलनामें तो यंत्रका आविष्कार करनेवालेकी विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

: २२ :

सविचार कार्य और विचाररहित कार्य

२

यरवदा-मंदिर

११-९-३२

काम करनेमें भी विचारशक्तिका पूरा उपयोग करनेके विषयमें लिख चुका हूं। उस पत्रके अंतमें एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमें मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता

है; दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमें ऐसे सुधार करनेकी बात सोचता है जिससे लाखों-करोड़ों कातनेवालोंको आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मैं खुद ही एक चरखेके जरिए लाखोंके बराबर सूत कात लूं तो कैसा अच्छा हो! पहलेका विचार समाज का पोषक है, दैवी है; दूसरे का आसुरी है, समाजहितका विरोधी है। इसलिए हरएक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नहीं है। वह विचार सबके हितका भी होना चाहिए, केवल अपने ही स्वार्थ-का नहीं। सच पूछिये तो जो केवल अपने ही स्वार्थके लिए प्रयास करता है वह दूसरोंका नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंतमें नहीं साध सकता।

इस दृष्टिबिंदुको सामने रखकर हरएक अपने हर काम, हर उद्योगके विषयमें विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने कामको रसमय बनाता है, अपनी बुद्धिका विकास करता है, अपने हृदयको विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्यमें कुशलता प्राप्त करता है और उसमें ऐसी खोजें और सुधार करता है जिनसे समाजका कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काममें उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनंद होता है, थकावट नहीं आती और कार्य कलामय हो जाता है; फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सड़ककी सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशालाका हो, किताबें लिखनेका हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आये उसीमें वह ईश्वरको देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस कामके, जाति-वर्गके ऊपर अवलंबित नहीं होता। उसका रस उसके

अंतर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणतासे निकलता है। जो अनासक्ति-योगको समझना, साधना चाहता हो उसको हरएक काम इसी तरह करना उचित है।

विविध

[नीतिमय जीवन-संबंधी स्फुट रचनाएं]

: १ :

आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वरका डर मानता है; विनयपूर्वक अपना अंतर्नाद सुनता है, उसके अनुसार बर्तता है और मानता है कि 'ईश्वर जो करता है, अच्छेके ही लिए करता है।'

निराशावादी कहता है कि 'मैं करता हूं।' अगर सफलता न मिली तो अपनेको बचाकर दूसरे सब लोगोंके मत्थे दोष मढ़ता है, भ्रमवश कहता है—'किसे पता, ईश्वर है या नहीं', और खुद अपनेको भला और दुनियाको बुरा मानकर कहता है कि मेरी किसीने कद्र नहीं की और अंतमें आत्मघात कर लेता है, और यदि न करे तो भी मुर्देकी तरह जीवन बिताता है।

आशावादी प्रेममें मगन रहता है। किसीको अपना दुश्मन नहीं मानता। इससे वह निडर होकर जंगलोंमें और गांवोंमें सैर करता है। भयानक जानवरों तथा ऐसे जानवरों जैसे मनुष्यों से भी वह नहीं डरता; क्योंकि उसकी आत्माको न तो सांप काट सकता है और न पापीका खंजर ही छेद सकता है। शरीरकी तो वह चिंता नहीं करता, क्योंकि वह तो कायाको कांचकी बोतल समझता है। वह जानता है कि एक-न-एक दिन तो यह तो फूटने ही वाली है। इसलिए वह उसकी रक्षाके निमित्त संसारको पीड़ित नहीं करता। वह न किसीको दिक ही करता है, न किसीकी जानपर ही हाथ उठाता है। वह तो अपने हृदयमें

वीणाके मधुर गानको निरंतर सुनता है और आनन्दसागर-में डूबा रहता है।

निराशावादी स्वयं रागद्वेषसे भरपूर होता है। इसलिए वह हरेकको अपना दुश्मन मानता है और हरेकसे डरता है। अंतर्नाद तो उसके होता ही नहीं। वह तो मधु-मक्खियोंकी तरह इधर-उधर भिनभिनाता हुआ बाहरी भोगोंको भोग-भोगकर रोज थकता है और रोज नया भोग खोजता है, और इस तरह प्रेम-रहित तथा अ-मित्र होकर इस दुनियासे कूच कर देता है। उसके नामकी याद तक किसीको नहीं आती।

हिन्दी नवजीवन
२८ अक्तूबर १९२२

: २ :

आचार बनाम विचार

मौलाना मुहम्मद अलीने इस्लाम-विषयक भाषणमें जो भेद दिखाया है, उसे कितने ही समझदार और विवेकवान सज्जन भी नहीं समझ पाये हैं। मौलानासाहब मानते हैं कि :

१. मनुष्यके आचार और विचारमें भेद होता है।

२. श्रेष्ठ विचारवालोंका आचार बुरा हो सकता है।

३. श्रेष्ठ आचारवालेके विचार दूसरे विचारोंके मुकाबले-में हीन हो सकते हैं।

यहां विचारका अर्थ है विश्वास, धर्म, मत। जैसे ईसाई-मतमें ईसा मसीहको ऐकान्तिक ईश्वर मानना, इस्लाममें ईश्वरको अद्वैत और मुहम्मदसाहबको पैगम्बर मानना। हिंदू

धर्ममें मेरे विचारके अनुसार सत्य और अहिंसाकी श्रेष्ठता मानी गई है—"सत्या न्नास्ति परो धर्मः", "अहिंसा परमो धर्मः।"

सच यह है कि सारा संसार पूर्वोक्त तीन सिद्धांतोंको मानता है। फर्ज कीजिये कि यूरोपका एक सर्व-श्रेष्ठ साधु यह मानता है कि मनुष्यके शरीरकी रक्षाकेलिए जीवित पशु इत्यादिको तरह-तरहके कष्ट देकर उनपर प्रयोग करने अथवा उन्हें मार डालनेमें किसी तरहकी बुराई नहीं। यही नहीं, बल्कि ऐसा न करनेमें बुराई है। इसके खिलाफ फर्ज कीजिये कि मैं एक दुष्ट मनुष्य हूं, पर मैं मानता हूं कि मनुष्य शरीरको बचानेके लिए भी किसी जीवधारीकी हिंसा करना इन्सानियतको कम कर देना है। तो क्या उस श्रेष्ठ साधुके साथ ज़रा भी गुस्ताखी किये बिना मैं यह नहीं कह सकता कि केवल विचार—विश्वास—का मुकाबला करें तो मेरे दुष्ट होते हुए भी मेरा विश्वास उन सर्वश्रेष्ठ साधुके विश्वाससे बहुत ऊंचे दर्जेका है ?

इस वर्तमान चर्चामें एक बात साफ तौरपर चमक उठती है और वह मानो इस अंधेरेमें आशाकी किरण है। सब लोग यह प्रतिपादन करते हुए मालूम होते हैं कि आचारहीन विचार बेकार हैं और अकेले शुद्ध विचारसे स्वर्ग नहीं मिल सकता। मौलानासाहबने अपनी रायमें कहीं भी इस बातका विरोध नहीं किया है। इस प्रयत्नमें मुझे आशाकी किरणें दिखाई देती हैं, क्योंकि आचारका पालन करनेवाले तथा उसका निरादर करनेवाले दोनों आचारके अर्थात सदाचारके पुजारी हैं।

परन्तु आचारकी पूजा करते हुए हमें विचारकी शुद्धता

की आवश्यकताको न भुला देना चाहिए। जहां विचारमें दोष होगा, वहां आचार अंतिम सीढ़ीपर नहीं चढ़ पावेगा। रावण और इंद्रजीतकी तपस्यामें किस बातकी खामी थी? इंद्रजीत के संयमका मुकाबला करनेकेलिए लक्ष्मणकी संयमकी आवश्यकता थी—यह दिखाकर आदिकविने आचारका महत्व सिद्ध किया। परन्तु इंद्रजीतके विचारमें—विश्वासमें—आर्थिक वैभवको प्रधान पद दिया गया था और लक्ष्मणके विश्वासमें वह पद परमार्थको मिला था। अतएव अंतमें कविने लक्ष्मणको विजयमाल पहनाई। "यतो धर्मस्ततो जयः" का भी अर्थ यही है। यहां धर्मका अर्थ यही हो सकता है कि उच्च-से-उच्च विचार अर्थात् विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार।

एक तीसरे प्रकारके भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चामें जगह नहीं है। वे हैं ढोंगी। उनके पास विचारका, विश्वासका, केवल दावा भर है; पर आचार बिल्कुल स्वांग है—आडंबर है। वास्तवमें उनका विश्वास ही नहीं होता। तोता 'राम-राम' रटता है तो क्या इससे लोग उसे राम-भक्त कहेंगे? फिर भी हम दो तोतों या तोते और चिड़ियाकी बोलीकी तुलना करके उनकी बोलीकी कीमत आंक सकते हैं।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अप्रैल १९२४

: ३ :

मनुष्य-मात्रका बन्धुत्व

आज मुझे आपके सामने मनुष्य-मात्रके बन्धुत्वपर बोलते

हुए आनन्द होता है। अब वहां हमारे जिन भाइयोंकी विडम्बना हो रही है, उन्हें मनुष्यमात्रके बन्धुत्वका क्या ख्याल आ सकता है ? वे तो कहेंगे कि जहांसे हिन्दुस्तानियोंको निकालनेका, अथवा एक अंगरेजकी मालिकीवाले अखबारने जैसा कि कहा है, वहांसे भूखों मार-मारकर उन्हें निकालनेका प्रयत्न वहांकी सरकार कर रही है, वहां बन्धुत्व किस तरह हो सकता है, यह हमारी समझमें नहीं आता। फिर भी मैंने आपके समक्ष इस विषयपर बोलना इसीलिए स्वीकार किया है कि ऐसी विडम्बना-के समय और बुरे दिनमें ही मनुष्यके प्रति मनुष्यके बन्धुत्व-की सच्ची आजमाइश होती है।

बहुत बार मेरी स्तुति की जाती है। उसे मैं एक कान-से सुनकर दूसरे कानसे निकाल देता हूं। पर आज आपने जिस गुणका आरोप मुझपर किया है, उसे स्वीकार करनेको जी चाहता है। आप कहते हैं कि मनुष्यमात्रके बन्धुत्वपर बोलने-का अधिकार यदि किसीको हो तो वह आपको अवश्य होना चाहिए। मैं इस बातको मानता हूं। मैंने अनेक बार यह देखने-की कोशिश की है कि मैं अपने शत्रुसे घृणा कर सकता हूं या नहीं—यह देखनेका नहीं कि प्रेम कर सकता हूं या नहीं, पर यह देखनेका कि घृणा कर सकता हूं या नहीं—और मुझे ईमानदारी-के साथ परन्तु पूरी-पूरी नम्रताके साथ कहना चाहिए कि मुझे नहीं मालूम हुआ कि मैं उससे घृणा कर सकता हूं। मुझे यह याद नहीं आता कि कभी किसी भी मनुष्यके प्रति मेरे मनमें तिरस्कार उत्पन्न हुआ हो। मैं नहीं समझ सकता कि यह स्थिति मुझे किस तरह प्राप्त हुई है। पर आपसे यह कहता हूं कि जीवनभर मैं इसीका आचरण करता आया हूं।

बन्धुत्वका अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें, उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्वमें व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्यत्वके साथ नहीं, प्राणिमात्रके साथ होना चाहिए। कितनी ही मानव-दया-सभाएं इंग्लैण्डमें मासिक पत्र निकालती हैं। एकमें तीस-पैंतीस साल पहले मैंने 'मेरा भाई बैल' नामकी कविता पढ़ी थी। उसमें यह उपदेश बड़ी मनोहर रीतिसे दिया गया था कि मनुष्यको चाहनेवाला प्राणिमात्र पर प्रेम करे। मैं उसपर मुग्ध हो गया था। उस समय मुझे हिन्दू धर्मका बहुत कम ज्ञान था। मेरे आस-पासके वायुमण्डलसे, मेरे माता-पितासे, तथा स्वजनोंसे जो कुछ मिल सकता था, मिला था। तो भी इतना तो मैं समझ ही गया था कि सब धर्म प्राणिमात्रके बन्धुत्वका उपदेश करते हैं। पर मैं आज इस व्यापक बन्धुत्वकी बात करना नहीं चाहता। मैं तो यह बात यह दिखलानेकेलिए करता हूं कि यदि हम अपने शत्रुके साथ भी प्रेम करनेके लिए तैयार न हों तो हमारा बन्धुत्व और कुछ नहीं, एक ढकोसला है। दूसरी तरहसे कहूं कि जिसने अपने हृदयमें बन्धुत्वके भावको स्थान दिया है, वह यह नहीं कहने दे सकता कि उसका कोई शत्रु है। लोग चाहे हमें अपना शत्रु मानते रहें, पर हम ऐसा दावा न करें।

तब सवाल यह होता है कि जो हमें अपना शत्रु समझते हैं उनके साथ प्रेम किस तरह करें? प्रतिदिन मुझे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई लोगोंकी चिट्ठियां मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं कि यह बात ग़लत है कि हम शत्रुको मित्र मान सकते हैं। हिन्दू लेखक लिखते हैं कि जो गाय हमारे लिए प्राण-समान प्रिय है, उसको मारनेवाले

मुसलमानके साथ प्रेम किस तरह हो सकता है ? ईसाई लेखक पूछते हैं कि अस्पृश्यताको माननेवाले, अपने भाइयोंको अछूत समझकर दलित करनेवाले हिन्दुओंके साथ प्रेम किस तरह करें ? लेखक यदि मुसलमान हो तो वह पूछता है कि बुतपरस्त हिन्दुओंके साथ मुहब्बत कैसे हो सकती है ? उन तीनोंसे मेरा यह कहना है कि 'आपका बन्धुत्व बेकार है,' यदि आप अपने वर्णित इन लोगोंको नहीं चाह सकते हैं। परन्तु इस तिरस्कार-भावका अर्थ क्या है ? इसके मूलमें भय है या सहिष्णुता ? यदि हम सब एक ईश्वरकी सन्तान हैं तो हम एक-दूसरेसे क्यों डरें, अथवा हमसे भिन्न मत रखनेवालेसे द्वेष क्यों करें ? पर जिस कृत्यसे हम घृणा करते हों, वह क्या किसी मुसलमानको करने दें ? मेरा बन्धुत्व उत्तर देता है—'हां।' और उसमें इतनी बात अधिक जोड़ता हूं, 'आप अपनेको कुरबानकर दीजिये।' जो वस्तु आपको प्रिय हो, यदि आप उसकी रक्षा करना चाहते हों तो आप बिना किसीपर हाथ उठाये उसके लिए मर जाइये।' मुझे ऐसी घटनाओंका अनुभव है। आपके अन्दर यदि प्रेमके साथ कष्ट सहनेकी हिम्मत हो तो आप पाषाण हृदयको भी पानी-पानी कर सकोगे। बदमाश यदि आपसे सवाया बलवान् हो तो आप हाथ उठाकर क्या करगे ? वह आपको जीतकर अधिक बदमाशी न करेगा ? दुष्टताकी आग विरोधके घीसे अधिक नहीं धधकती ? क्या इतिहास इस बातका साक्षी नहीं है ? और क्या इतिहासमें ही ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि अहिंसाकी पराकाष्ठाको पहुंच जानेवालोंने बड़े-बड़े विकराल पशुओंको वश में कर लिया है ? पर इस पराकाष्ठाकी अहिंसा को जाने दें। इसके लिए तो महा शूरवीर योद्धासे भी अधिक बहादुरीकी

जरूरत है। और जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो, उसके साथ लड़कर मर जानेके डर से बैठ रहनेकी अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है। कायरता और बन्धुत्व परस्पर विरोधी हैं। संसार शत्रुके साथ प्रीति करने की बातको स्वीकार नहीं करता। ईसा के अनुयायी यूरोपमें भी अहिंसाके सिद्धान्तका मज़ाक उड़ाया जाता है। वहांसे कोई साहब लिखते हैं, अहिंसाका सिद्धान्त अधिक समझाइये, तो कोई कहते हैं कि हिन्दुस्तानमें बैठे-बैठे आप भले ही ऐसी बातें कीजिए। यूरोपमें आप ऐसा नहीं कर सकते। और कितने ही लिखते हैं कि ईसाई धर्म तो आज पाखण्ड हो रहा है, ईसाई लोग ईसाके सन्देशको नहीं समझते। इस तरह उसके पहुंचानेकी जरूरत है कि हम समझ जायं। तीनोंकी दृष्टियोंसे तीनोंका कथन ठीक है, पर मुझे कहना होगा कि यदि शत्रुको चाहनेका सिद्धान्त स्वीकार न करें तो बन्धुत्वकी बातें करना हवामें महल बनाना है। कितने ही स्त्री-पुरुष मुझसे पूछते हैं कि क्या लोग कहीं वैर-भावको छोड़ सकते हैं? मैं कहता हूं—'हां।' हमें अपने मनुष्यत्वका पूरा भान नहीं, इसीसे वैर नहीं छोड़ा जाता। डार्विन कहता है, हम बन्दरके वंशज हैं। यदि यह सच हो तो हम अभी मनुष्यकी दशा प्राप्त नहीं कर पाये हैं। डा० आना किंग्सफर्डने लिखा है कि मैंने पेरिसमें मनुष्यके रूपमें सिंह, शेर, भालू और सांपको विचरते हुए देखा है। इस पशुत्वको मिटानेके लिए मनुष्यको भय छोड़नेकी आवश्यकता है। डर अपने अन्दर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियारसे सुसज्जित होकर नहीं। महाभारतने वीरका भूषण अथवा वीरका गुण क्षमा बताया है। जनरल गार्डनका एक पुतला है, उसकी बहादुरी बतानेके लिए उसके

हाथमें तलवार नहीं, बल्कि एक छड़ी रक्खी गई है। यदि मैं शिल्पकार होता और मैं गार्डनकी मूर्त्ति बनाता तो मैं उन्हें अदब-के साथ सीना ताने हुए खड़ा बनाता और नीचे लिखे शब्द संसार को सुनाता हुआ बनाता––

'चाहे कितने ही प्रहार करो, बिना भयके, बिना वैरके उन्हें झेलनेकेलिए यह सीना खुला हुआ है।' यह है मेरे वीरका आदर्श। ऐसे वीर जगत्में अमर हुए हैं। ईसाई धर्मने ऐसे शूरवीरोंको जन्म दिया है। हिन्दूधर्म और इस्लामने भी दिया है। मुझे यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि इस्लाम तलवारका धर्म है। इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता।

ये तो व्यक्तियोंकी बातें हैं। जातियोंके निर्वैर हो जानेके भी उदाहरण हैं। ज्यों-ज्यों हम बन्धुत्वका सबक़ सीखते जायंगे और उसके अनसार चलते जायंगे त्यों-त्यों वह व्यापक होता जायगा। क्वेकर तथा टालस्टाय वर्णित दुखोबोरका इतिहास क्या कहता है?

परन्तु यूरोपके कितने ही प्रशस्त लेखक तथा भारतके बड़े लेखक कहते हैं कि ऐसा समय कभी नहीं आ सकता कि मनुष्य-जाति निर्वैर हो जाय। इसी बातपर मेरा विवाद है। मैं उलटा यह कहता हूं कि मनुष्य जबतक निर्वैर नहीं हो जाता तबतक वह मनुष्य नहीं बन सकता, अपने धामको नहीं पहुंच सकता। हम चाहें या न चाहें, हमें इसी रास्ते जाना होगा, और आज मैं आपसे यह कहने आया हूं कि लाचार होकर इस रास्ते जानेकी अपेक्षा स्वेच्छा से क्यों नहीं जाते? यह बात ज़रा विचित्र मालूम होगी कि मुझे ईसाइयोंके सामने यह बात करनी पड़ती है। परन्तु

हिन्दुओंके सामने भी यही बात करनी पड़ती है। कितने ही ईसाई तो मुझे कहते हैं कि हजरत ईसाकी निर्वैरताका उपदेश केवल उनके बारह शिष्योंके ही लिए था। हिन्दुस्तानमें अहिंसा-के विरोधी लोग कहते हैं कि अहिंसासे नामर्दी फैलेगी। मैं आपसे कहनेके लिए आया हूं कि यदि भारतवर्ष अहिंसक न बनेगा तो उसका सर्वनाश समझिये, दूसरी तमाम कौमोंका नाश समझिये। भारतवर्ष तो एक भारी भूखण्ड है। वह यदि हिंसक हो जाय तो और खण्डोंकी तरह वह भी दुर्बल पर सीनाज़ोरी करेगा और यदि ऐसा हुआ तो इसका क्या फल होगा, इसकी कल्पना कर लीजिये।

मेरी राष्ट्रीयतामें प्राणि-मात्रका समावेश होता है। संसारकी समस्त जातियोंका समावेश होता है। और यदि मैं भारतवर्षको अहिंसाका कायल कर सकूं तो भारत सारे जगत्-को भी कुछ चमत्कार दिखा सकेगा। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रोंकी चिता-भस्म पर खड़ा हो। मैं चाहता हूं कि भारत आत्म-बल प्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रोंको बलवान बनावे। दूसरे राष्ट्र हमें बलका मार्ग नहीं दिखा रहे हैं। इसीलिए मुझे इस अचल सिद्धान्तका आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधानको स्वीकार न करूंगा, जिसका आधार पशु-बल हो।

राष्ट्रपति विल्सनने अपने चौदह सिद्धान्तोंकी रचना की और उसपर कलश चढ़ाते हुए कहा—"यदि हम इसमें सफल न हों तो फिर हथियार तो हैं ही।" मैं इसे उलट कर कहना चाहता हूं, "हमारे सब पार्थिव शस्त्र बेकार हुए हैं, किसी नये शस्त्रको खोजें। चलो, अब प्रेमका शस्त्र—सत्यका शस्त्र लें। यह शस्त्र

जब हमें मिल जायगा तब हमें दूसरे किसी शस्त्रकी जरूरत न रहेगी ।"

हिन्दी नवजीवन,
२७ अगस्त १९१५

: ४ :

अत्याचारीपर प्रेम किस तरह ?

पापसे घृणा करो, पापीसे नहीं। हम सब पापसे युक्त हैं। फिर भी हम चाहते हैं कि संसार हमें सहन करे, निबाहे। तब अंग्रेजोंको भी हम क्यों न निबाह लें ? ईश्वर जानता है कि अंग्रेज राज-कर्ताओंके पापकी टीका मुझसे अधिक सख्त और निडर दूसरे किसीने न की होगी, वर्तमान शासन-प्रथाकी दुष्टताकी निन्दा मुझसे अधिक कठोर किसीने न की होगी। फिर भी उस प्रथाके प्रवर्तकों या संचालकोंसे मुझे ज़रा भी घृणा नहीं। अपने विषयमें तो मेरा दावा है कि मैंने उनके प्रति प्रेम रक्खा है और फिर भी उनके अपराधके प्रति मैं अन्धा नहीं। हम प्रेम तभी करें जब किसीमें गुण हों, तो क्या इसे प्रेम कह सकते हैं ? यदि मैं अपने धर्मका पालन करनेवाला हूं, यदि मैं मानव-जातिके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करता हूं तो मुझे मनुष्य-जातिकी दोष-पात्रता, अपने विरोधियोंकी न्यूनता और पापके देखने पर उनके प्रति घृणा नहीं, बल्कि प्रेम करना चाहिए। मैंने तो प्रचलित शासन-प्रणालीको राक्षसी कहा है और अब भी कहता हूं। परन्तु इसलिए यदि उसके संचालकोंको सजा दिलानेका षड्यन्त्र रचने लगूं तो बस मेरा खातमा समझिये। असहयोग द्वेष या घृणा

का मंत्र नहीं, प्रेमका मंत्र है। कितने ही सत्याग्रही और असहयोगी केवल नामधारी हैं, यह मैं जानता हूं। वे कदम-कदम पर अपने धर्मका ध्वंस करते हैं, यह मुझे पता है। परन्तु इस प्रेममंत्रके रहस्यके विषय में तो बिल्कुल सन्देह ही नहीं है। इसका रहस्य यह है कि स्वयं कष्ट उठाकर विरोधीको जीतना, स्वयं संकट सहन कर जालिमको नम्र बनाना। सत्याग्रहका रहस्य यही है कि जो धर्म पिता और पुत्रमें है, वही एक समूहका दूसरे समूहके प्रति, शासक और शासितमें पालन किया जाय। पुत्र पिताके और पिता पुत्रके पापके प्रति अपनी आंख मूंद रक्खे तो उसका प्रेम अन्धा है। पर उसके पापको जानते हुए यदि प्रेमसे उसे जीते, दुःख सहन करके, प्रायश्चित करके, तप करके जीते तभी उस प्रेममें विवेक है। यह विवेक-युक्त प्रेम सुधारकका प्रेम है और यह प्रेम सब दुःखोंके निवारणकी कुंजी है।

हिन्दी नवजीवन,
१० सितम्बर १९२५

: ५ :

प्रिय और अप्रिय सत्य

हालहीमें प्रकाशित हुए एक लेखकके एक पत्रमेंसे मैंने कुछ वाक्य निकाल डाले थे। उसके सिलसिलेमें वे शिकायत करते हैं :

"मेरे उस पत्रसे आपने जो कुछ अंश निकाल डाला, उसके होते हुए भी मैं कहता हूं कि आपको भेजे अपने तमाम पत्रोंमें और खासकर उनमें, जिनका सम्वन्ध जातिगत प्रश्नोंसे है, मैंने 'सत्यं ब्रयात् प्रियं ब्रूयात न

अर्थात् सत्यंप्रियम्' इस दूरदृष्टि-पूर्ण वचनका पालन नहीं किया है, बल्कि विलियम लायड गैरिसनकी उस उक्तिका पालन किया है, जो कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' बम्बईका ध्येय-सूत्र है—मैं सत्यकी तरह कठोर—अप्रिय बोलूंगा और न्यायकी तरह अटल आग्रही रहूंगा, आदि।"

मैं अप्रिय सत्यका ख्याल नहीं करता। हां, तीखे, चटपटे सत्यपर जरूर मेरा एतराज है। तीखी, चटपटी भाषा सत्यके नज़दीक उतनी ही विजातीय है, जितनी कि नीरोग जठरके लिए तेज मिर्च। जो वाक्य मैंने हटा लिये थे, वे लेखक के आशयको स्पष्ट करनेके लिए या उसमेंसे कोई मुद्दा निकालनेकेलिए आवश्यक न थे। वे न तो उपयोगी थे, न आवश्यक, उल्टा दिल दुखानेवाले थे। ऐसा विचार करनेका रिवाज-सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलनेके लिए मनुष्यको अप्रिय भाषाका प्रयोग करना चाहिए, हालांकि जब सत्य अप्रियताके साथमें उपस्थित करते हैं तब उसको हानि पहुंचती है। यह ऐसा ही है जैसा कि शक्तिको सहारा देना। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान् है और जब कड़े शब्दोंके द्वारा उसकी पुष्टिका प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। मुझे उस संस्कृत वचनमें और गैरिसनके सूत्रमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता। मेरी रायमें संस्कृत श्लोकका अर्थ है कि मनुष्यको सत्य प्रिय—मृदु भाषामें बोलना चाहिए। यदि कोई मृदुलतासे ऐसा न कर सके तो बेहतर है कि वह चुप रहे। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अपनी जिव्हाको कब्ज़ेमें नहीं रख सकता, उसमें सत्यका अधिष्ठान नहीं है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो 'अहिंसा-शून्य सत्य, सत्य नहीं, बल्कि असत्य है।' गैरिसन के सूत्रका अर्थ उसके जीवनको सामने रखकर लगाना चाहिए। वह अपने समयका एक नम्र-

से-नम्र मनुष्य था। उसकी भाषाको देखिये, वह सत्यकी ही तरह कठोर होगी। पर चूंकि सत्य वही होता है, जोकि कभी कठोर नहीं होता, बल्कि हमेशा प्रिय और हितकर होता है, उस सूत्र-का यही अर्थ हो सकता है कि गैरिसन उतना ही नम्र होगा जितना कि सत्य। बस, दोनों वचन वक्ता या लेखककी आन्तरिक अवस्थासे सम्बन्ध रखते हैं, उस प्रभावसे नहीं, जोकि उन लोगोंपर पड़ेगा, जिनके सम्बन्धमें वह लिखा या कहा गया हो। ···इन दिनों जबकि चारों ओर कटुता फैली हुई है, अति सावधानीसे भी कोई भारी बात नहीं कही जा सकती। और आख़िर पूर्ण सत्यको जानता ही कौन है? मामूली व्यवहारमें तो सत्य सिर्फ एक सापेक्ष शब्द है। जो बात मेरे नज़दीक सत्य है, वही आवश्यक रूपसे मेरे अन्य साथियोंके नज़दीक सत्य नहीं हो सकती। हम सब उन अन्धे आदमियोंकी तरह हैं, जिन्होंने हाथीको टटोल-टटोलकर उसका जुदा-जुदा वर्णन किया था और उनकी बुद्धि और विचारके अनुसार वे सब सच थे। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि वे सब गलती पर थे। हर आदमी सत्यसे बहुत दूर रहा था। इसलिए यदि कोई आदमी कटुतासे बचते रहनेकी आवश्यकतापर ज़ोर दे तो वह कुछ ज़्यादा बात नहीं कही जा सकती। कटुतासे कल्पना-पथ मलिन हो जाता है और मनुष्य उस मर्यादित सत्यको भी देखनेमें उसहद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हदतक कि शरीरसे अन्धे मनुष्य देख पायें।

हिन्दी नवजीवन

१७ सितम्बर १९२५

: ६ :

यह सुधार है ?

एक लेखक, जिन्हें मैं अच्छी तरह पहचानता हूं, इस प्रकार लिखते हैं--

"बार-बार मनमें यही सवाल होता है कि क्या प्रचलित नीति प्राकृतिक नीति है ? आपने नीति-धर्मकी पुस्तक लिखकर प्रचलित नीतिका समर्थन किया है। क्या यह प्रचलित नीति कुदरती है ? मेरा तो यह खयाल है कि वह कुदरती नही है, क्योंकि वर्तमान नीतिके कारण ही मनुष्य वषयमें पशुसे भी अधम बन गया है। आजकी नीतिकी मर्यादाके कारण संतोषकारक विवाह शायद ही कही होता होगा; नहीं होता है, यह कहूं तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। जब विवाहका नियम न था, उस समय कुदरतके नियमोंके अनुसार स्त्री-पुरुषोंका समागम होता था और वह समागम सुख रूप होता था। आज नीतिके बन्धनोंके कारण वह समागम एक प्रकारका दुःख हो गया है। इस दुःखमें सारा जगत फंसा हुआ है और फंसता जा रहा है।

"अब नीति कहेंगे किसे ? एककी नीति दूसरेकी अनीति होती है। एक एक ही पत्नीके साथ विवाहका होना स्वीकार करता है, दूसरा अनेक पत्नी करनेकी इजाजत देता है। कोई काका, मामाकी सन्तानोके साथ विवाह-सम्बन्धको त्याज्य मानते है तो कोई उसकेलिए इजाज़त भी देते है। तो अब इसमें नीति क्या समझनी चाहिए ? मै तो यह कहता हूं कि विवाह एक प्रकारकी सामाजिक व्यवस्था है, उसका धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराने जमानेके महापुरुषोंने देशकालानुसार नीतिकी व्यवस्थाकी थी।

"अब इस नीतिके कारण जगत्की कितनी हानि हुई है, इसकी जांच करें---

(१) प्रमेह (सुजाक) उपदंश (गरमी) इत्यादि रोग उत्पन्न हुए। पशुओंमें ये रोग नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक समागम होता है।

(२) बाल-हत्याएं कराईं। यह लिखनेमें मेरा हृदय कांप उठता है। केवल इस नीतिके नियमके कारण ही तो एक कोमल हृदयकी माता क्रूर बनकर अपने बालकका गर्भ में या उसके गर्भके बाहर आनेपर नाश करती है।

(३) बाल-विवाह, वृद्ध पतिके साथ छोटी उम्रकी लड़कियोंका विवाह इत्यादि पसन्द न करने योग्य समागमोंका होना। ऐसे समागमों-के कारण ही आज संसार और उसमें भी विशेषकर भारतवर्ष दुर्बल बना हुआ है।

(४) जर, जोरू और जमीनके तीन प्रकारके झगड़ोंमें भी जोरू केलिए किये गए झगड़ोंको प्रथम स्थान प्राप्त है। ये भी वर्तमान नीतिके कारण ही होते हैं।

"उपरोक्त चार कारणोंके सिवा दूसरे कारण भी होंगे। यदि मेरी दलील ठीक है तो क्या प्रचलित नीतिमें कोई सुधार नहीं किया जाना चाहिए ?

"ब्रह्मचर्यको आप मानते हैं, यह ठीक ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य राजी-खुशीका होना चाहिए, जबर्दस्तीका नही। और हिन्दू लोग लाखों विध-वाओं से जबर्दस्ती ब्रह्मचर्यका पालन कराते हैं। इन विधवाओंके दुःखों-को तो आप जानते ही हैं। आप यह भी जानते हैं कि इसी कारणसे बाल-हत्याएं होती हैं। तो आप पुनर्विवाहके लिए एक बड़ी हलचल करें तो क्या बुरा ? उसकी आवश्यकता भी कुछ कम नहीं है। आप उसके प्रति जितना चाहिए, उतना ध्यान क्यों नहीं दे रहे हैं ?"

मैं यह ख्याल करता हूं कि लेखकने ऊपर जो प्रश्न पूछे हैं, इस विषयपर मुझसे कुछ लिखानेके लिए ही पूछे हैं, क्योंकि ऊपरके लेखमें जिस पक्षका समर्थन किया गया है, उसका लेखक स्वयं ही समर्थन करते हों तो इसकी मुझे कभी बू तक नहीं मिली है। परन्तु मैं यह जानता हूं कि उन्होंने जैसे प्रश्न पूछे हैं, वैसे प्रश्न आजकल भारतवर्षमें भी हो रहे हैं। उसकी उत्पत्ति पश्चिम-में हुई है, और विवाहको पुरानी, जंगली और अनीतिकी वृद्धि

करनेवाली प्रथा माननेवालोंकी संख्या पश्चिममें कुछ कम नहीं है। शायद वह संख्या भी बढ़ रही होगी। विवाहको जंगली साबित करनेके लिए पश्चिममें जो दलीलें की जाती हैं, उन सब दलीलोंको मैने नहीं पढ़ा है। परन्तु ऊपर लेखकने जैसी दलीलें की हैं, वैसी ही वे दलीलें हों तो मेरे जैसे पुरानप्रियको (अथवा यदि मेरा दावा कुबूल रक्खा जाय तो सनातनीको) उनका खण्डन करनेमें कोई मुश्किल या पशोपेश न होगा।

मनुष्यकी तुलना पशुके साथ करनेमें ही मूलतः गलती होती है। मनुष्यके लिए जो नीति और आदर्श रक्खे गये हैं, वे बहुतांशमें पशु-नीतिसे जुदा हैं और उत्तम है और यही मनुष्य-की विशेषता है। अर्थात् कुदरतके नियमोंका जो अर्थ पशु-योनि-केलिए किया जा सकता है, वह मनुष्य योनिकेलिए हमेशा नहीं किया जा सकता है। ईश्वरने मनुष्यको विवेकशक्ति दी है। पशु केवल पराधीन है। इसलिए पशुके लिए स्वतंत्रता अथवा अपनी पसन्दगी जैसी कोई चीज़ नहीं है। मनुष्यकी अपनी पसन्दगी होती है। वह सार-असारका विचार कर सकता है और उसके स्वतंत्र होनेसे उसे पाप-पुण्य भी लगता है। और जहां उसकी अपनी पसन्दगी रक्खी गई है, वहां उसे पशुसे भी अधम बननेका अवकाश रहता है। उसी प्रकार यदि वह अपने दिव्य स्वभावके अनूकूल चले तो वह आगे भी बढ़ सकता है। जंगलियोंमें भी जंगली दिखनेवाली कौमोंमें भी थोड़े-बहुत अंशों-में विवाहका अंकुश होता है। यदि यह कहा जाय कि यह अंकुश रखनेमें ही जंगलीपन है, क्योंकि पशु किसी अंकुशके वश नहीं होते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि स्वच्छन्दता ही मनुष्य

का नियम बन जायगा। परन्तु यदि सब मनुष्य चौबीस घण्टे तक भी स्वेच्छाचारी बनकर रहें तो सारे जगत्का नाश हो जायगा। न कोई किसीकी मानेगा, न सुनेगा, स्त्री और पुरुषमें मर्यादा का होना अधर्म गिना जायगा। और मनुष्यका विकार तो पशुके बनिस्बत कहीं अधिक होता है। इस विकारकी लगाम ढीली कर दी कि उसके वेगसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि ज्वालामुखीकी तरह भभक उठेगा और संसारको क्षणमात्रमें भस्म कर देगा। थोड़ा-सा विचार करने पर यह मालूम होगा कि मनुष्य इस संसारमें दूसरे अनेक प्राणियोंपर जो अधिकार प्राप्त किये हुए है, वह केवल संयम, त्याग और आत्म-बलिदान, यज्ञ और कुरबानीके कारण ही प्राप्त किये हुए है।

उपदंश, प्रमेह इत्यादिका उपद्रव विवाहके नियमोंका भंग करनेसे और मनुष्य के पशु न होने पर भी पशुका अनुकरण करनेमें दोषी बन जानेसे ही होता है। विवाहके नियमोंका पालन करनेवाले ऐसे एक भी शख्सको मैं नहीं जानता हूं, जिसे इन भयंकर रोगोंका शिकार होना पड़ा हो। जहां-जहां ये रोग हुए हैं, वहां-वहां अधिकांशमें विवाह-नीतिका भंग करने से ही वे हुए हैं अथवा उस नीतिका भंग करनेवालोंके स्पर्शसे ही हुए हैं। वैद्यक शास्त्रसे यह बात सिद्ध होती है। बाल-विवाह और बाल-हत्याका निर्दय रिवाज़ इस विवाह-नीतिके कारण नहीं, परन्तु विवाह-नीतिके भंगसे ही उस रिवाजकी उत्पत्ति हुई है। विवाह-नीति तो यह कहती है कि जब पुरुष अथवा स्त्री योग्य वयके हों, उन्हें प्रजोत्पत्तिकी इच्छा हो, उनका स्वास्थ्य अच्छा हो तभी वे अमुक मर्यादाका पालन करते हुए अपने लिए योग्य पत्नी या पति ढूंढ़ लें अथवा उनके माता-पिता उसका प्रबन्ध

कर दें। जो साथी ढूंढ़ा जाय, उसमें भी आरोग्य इत्यादिके गुणों-का होना आवश्यक है। इस विवाह-नीतिका पालन करनेवाले मनुष्य, संसारमें चाहे कहीं भी जाओ और देखो, सुखी ही दिखाई देंगे। जो बात बाल-विवाहके सम्बन्धमें है, वही वैधव्यके सम्बन्ध में भी है। विवाह-नीतिके भंग से ही दुःखरूप वैधव्य उत्पन्न होता है। जहां विवाह शुद्ध होता है, वहां वैधव्य अथवा विधुरता सहज सुखरूप और शोभारूप होती है। जहां ज्ञानपूर्वक विवाह-सम्बन्ध जोड़ा गया है, वहां वह सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं होता है, वह आत्मिक हो जाता है और देह छूट जानेपर भी आत्माका सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता है। जहां इस सम्बन्धका ज्ञान होता है, वहां पुनर्विवाह असम्भव है, अयोग्य है और अधर्म है। जिस विवाहमें उपरोक्त नियमोंका पालन नहीं होता है, उस विवाहके सम्बन्धको विवाहका नाम नहीं दिया जाना चाहिए। और जहां विवाह नहीं होता है, वहां वैधव्य अथवा विधुरता जैसी कोई चीज़ ही नहीं होती है। यदि हम ऐसे आदर्श विवाह बहुत होते हुए नहीं देखते हैं तो उससे विवाहकी प्रथाका नाश करनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता है। हां, उसे उत्तम आदर्श-के अनुकूल बनानेका प्रयत्न करनेके लिए वह एक सबल कारण अवश्य हो सकता है।

सत्यके नामसे असत्यका प्रचार करनेवालोंकी संख्या-को देखकर यदि कोई सत्यका ही दोष निकाले और उसकी अपूर्णता सिद्ध करनेका प्रयत्न करे तो हम उसे अज्ञानी कहेंगे। उसी प्रकार विवाहके भंगके दृष्टान्तोंसे विवाह-नीतिकी निन्दा करनेका प्रयत्न भी अज्ञान और अविचारका ही चिह्न है।

लेखक कहते हैं कि विवाहमें धर्म या नीति कुछ भी नहीं है, वह तो एक रूढ़ि अथवा रिवाज है। और वह भी धर्म और नीति के विरुद्ध है और इसलिए उठा देनेके योग्य है। मेरी अल्पमतिके अनुसार तो विवाह धर्मकी मर्यादा है और उसे यदि उठा दिया जायगा तो संसारमें धर्म जैसी कोई चीज़ ही न रहेगी। धर्मकी जड़ ही संयम अथवा मर्यादा है। जो मनुष्य संयमका पालन नहीं करता है, वह धर्मको क्या समझेगा ? पशुके बनिस्वत मनुष्यमें बहुत ही अधिक विकार होता है। दोनोंमें जो विकार हैं उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती है। जो मनुष्य विकारोंको अपने वशमें नहीं रख सकता है, वह मनुष्य ईश्वरको पहचान ही नहीं सकता है। इस सिद्धान्तका समर्थन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं इस बातको स्वीकार करता हूं कि जो लोग ईश्वरका अस्तित्व अथवा आत्मा और देहकी भिन्नताको स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए विवाह-बन्धनकी आवश्यकताको सिद्ध करना बड़ा ही मुश्किल काम है। परन्तु जो आत्माके अस्तित्वको स्वीकार करता है और उसका विकास करना चाहता है, उसे यह समझानेकी कोई आवश्यकता न होगी कि देहका दमन किये बिना आत्माकी पहचान और उसका विकास असम्भव है। देह या तो स्वच्छन्दताका भाजन होगा अथवा आत्माकी पहचान करने केलिए तीर्थ-क्षेत्र होगा। यदि वह आत्माकी पहचान करनेके लिए तीर्थ-क्षेत्र है तो स्वेच्छाचारकेलिए उसमें कोई स्थान ही नहीं है। देहको प्रतिक्षण आत्माके वशमें लानेका प्रयत्न करना चाहिए।

जमीन, जोरू और जर ये तीनों वहीं झगड़ेका कारण होते हैं जहां संयम-धर्मका पालन नहीं होता है। विवाहकी प्रथाको

जितने अंशोंमें मनुष्य आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, उतने अंशोंमें स्त्री झगड़ेका कारण होनेसे बच जाती है। यदि पशुकी तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष भी जहां जैसा चाहे वैसा व्यवहार रख सकते होते तो मनुष्योंमें बड़ा झगड़ा होता और वे एक-दूसरेका नाश करते। इसलिए मेरा तो यह दृढ़ अभिप्राय है कि जिस दुराचार और जिन दोषोंका लेखकने उल्लेख किया है उसकी औषधि विवाह-धर्म-का छेदन नहीं है, परन्तु विवाह-धर्मका सूक्ष्म निरीक्षण और पालन है।

किसी जगह रिश्तेदारोंमें विवाह-सम्बन्ध जोड़नेकी स्वतंत्रता होती है और किसी जगह ऐसी स्वतंत्रता नहीं होती। यह सच है, यह नीतिकी भिन्नता है। किसी जगह एक पत्नीव्रतका पालन करना धर्म माना जाता है और किसी जगह एक समयमें अनेक पत्नी करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। यह बात चाहने योग्य है कि ऐसी नीतिकी भिन्नता न हो, परन्तु यह भिन्नता हमारी अपूर्णताका सूचक है, नीतिकी अनावश्यकताका सूचक कभी नहीं। ज्यों-ज्यों हम अधिक अनुभव करते जायंगे त्यों-त्यों सब कौमोंकी और सभी धर्मोंके लोगोंकी नीतिमें ऐक्य होता जायगा। नीतिके अधिकारका स्वीकार करनेवाला जगत् तो आज भी एक पत्नीव्रतको आदरकी दृष्टिसे देखता है। किसी भी धर्ममें अनेक पत्नी करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ अनेक पत्नी करनेकी इज़ाज़त ही है। देश और समयको देखकर अमुक इजाजत दी जाय तो उससे आदर्श कुछ बिगड़ता नहीं है और न उसकी कोई भिन्नता ही सिद्ध होती है।

विधवा-विवाहके सम्बन्धमें मैं अपने विचारोंको अनेक बार प्रकाशित कर चुका हूं। बाल-विधवाके पुनर्विवाहको मैं

इष्ट मानता हूं, यही नहीं, मैं यह भी मानता हूं कि उनकी शादी कर देना उनके माता-पिता का कर्त्तव्य है।

हिन्दी नवजीवन,
२९ अप्रैल १९२६

: ७ :

शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि

वह शिक्षक, जिन्होंने अपने शिष्योंको चरखा चलाना इसलिए सिखाया था कि मेरी आज्ञा है, लिखते हैं :

"२४ जून १९२६ के 'यंग इंडिया'में 'महात्माजीका हुक्म' शीर्षक आपका लेख पढ़कर निम्नलिखित शंकाएं मेरे मनमें उत्पन्न हुई :

"आप विवेकको बहुत प्रधानता देते हैं। क्या आपने 'यंग इंडिया', अथवा 'नवजीवन'में यह भी नहीं लिखा था कि विवेक इंग्लैण्डके राजाकी तरह इन्द्रिय रूपी अपने मन्त्रियोंके हाथमें सोलहों आने है? क्या आदमी प्रायः उसी दिशामें तर्क नही करता, जिस दिशामें उसकी इन्द्रियां उसे ले जाती है? तब फिर आप बुद्धिको पथ-प्रदर्शक कैसे करार दे सकते है? क्या आपने यह नहीं कहा है कि तर्क विश्वासके बाद आता है? इसलिए यदि किसी व्यक्तिमें कातनेकी रुचि नहीं है तो उसे न कातनेके पक्षमें दलीलें भी मिल जायंगी। छोटे बच्चोंकी विचार-शक्तिपर अधिक ज़ोर डालना कहांतक वांछनीय है? महान् सुधारक रूसोने कहा था कि बचपन बुद्धिकी सुषुप्तावस्था है। इसलिए वह बाल्यकालमें अच्छी आदतोंको महज सिखानेके पक्षमें थे। और निस्सन्देह, लड़कोंको किसी महात्माके हुक्मके अनुसार काम करना सिखाना—और फिर खास तौर पर तब, जबकि उस महात्माके उपदेशमें शारीरिक श्रमके लिए स्थान हो—तो एक सुटेवका ही डलवाना है। जब बच्चे बड़े होंगे, तब वे कातनेके पक्षमें बहुत-सी बातें ढूंढ़ निकालेंगे। लेकिन तबतकके

लिए क्या अन्ध वीरोपासनाका भाव (जैसा कि आप उसे कहना चाहते हैं) उनमें जाग्रत करना ठीक न होगा ? क्या हम लोगोंने आजकल बुद्धिको एक खिलवाड़-सा नही बना रक्खा है ? सड़ी-सड़ी-सी बातोंके लिए हम लम्बी-चौड़ी दलीलें ढूंढ़नेमें माथापच्ची करते हैं और तब भी सन्तुष्ट नही होते। बुद्धिका बेशक एक स्थान है, परन्तु जो स्थान आजकल हम लोगोंने उसे दे रक्खा है, उससे कहीं नीचा।

"जबतक कि किसी व्यक्तिको पक्के तौरपर यह न याद हो कि वह पहले अमुक सम्बन्धमें क्या कह चुका है और किस परिस्थितिमें, तबतक अपने ही विरुद्ध वाक्य उद्धृत करना ठीक नही है।"

जो-जो बातें उक्त सज्जन मेरे द्वारा लिखित बतलाते हैं, वे बेशक मैंने किसी-न-किसी समय लिखी हैं, परन्तु बिल्कुल दूसरी ही परिस्थितिमें। जबकि कोई बात कारण-सहित बिल्कुल अच्छी तरहसे बतलाना सम्भव है, यहांतक कि बच्चे भी खूब अच्छी तरहसे उसे समझ सकते हों, तो किसी विद्वानके नामपर उसे बतलाने और तदनुसार कार्य करनेकी शिक्षा देनेका कोई कारण नहीं है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। हरेक व्यक्ति अपनी रुचि और अरुचि रखता है और जबकि कोई व्यक्ति 'वीर'में श्रद्धा रखने लगे, तब वह अपने विवेकको विदाकर देता है और उसका वह खिलवाड़ बना लेता है। उसीको मैं अन्ध वीरोपासना कहता हूं। वीरोपासना एक उत्तम गुण है। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति बिना आदर्शके उन्नति नहीं कर सकता है। उसके लिए 'वीर' प्रकाशदायक और उत्साहवर्धक हुआ करता है। वह भावको कार्यमें परिणत करना सम्भव करता है और शायद बिना उसके, लोग अपनी कमजोरीके कारण कार्य करने पर उद्यत न होते। वह हमको निराशाकी दलदलसे उबारता है, उसके कृत्योंका स्मरण हममें असीम त्याग करनेका

बल भरता है। परन्तु यह कदापि न होना चाहिए कि वह विवेक-को नष्ट कर दे और हमारी बुद्धिको, पंगु बना दे। हममेंसे उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट आत्माओंके कथनों तथा कार्यों तकको हमें अच्छी तरह कसौटीपर कस लेना चाहिए, क्योंकि वे 'वीर' आखिर मनुष्य और नाशवान् हैं। वह भी ठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं जैसी कि हममेंसे अधम-से-अधम। उनकी उत्तमता तो उनके निर्णय तथा काम करनेकी उनकी शक्तिमें है। इसलिए जब वे गलती करते हैं, तब परिणाम बड़ा भयंकर होता है। वे उस व्यक्ति या राष्ट्रका नाश मार देते हैं, जो कि अन्ध वीरोपासना करनेकी आदतमें है और बिना सोचे-समझे तथा बिना शंका तक किये उसकी सब बातोंको मान लेते हैं। इसलिए वीरोपासना-के प्रति अन्धभक्ति विवेककी अन्धभक्तिसे ज्यादा खराब है। सच बात तो यह है कि विवेककी अन्धभक्ति कोई चीज है ही नहीं। परन्तु उक्त शिक्षककी, विवेक-सम्बन्धी चेतावनीसे एक लाभ हुआ है—यह देखते हुए कि अधिकांश रूपसे विवेक व्यवहारका एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, यह आवश्यक है कि उसके मंत्री आज्ञाकारी एवं शुद्ध हों। इसलिए इन्द्रियोंको कठोर संयम द्वारा वशमें कर लेना चाहिए, ताकि विवेकका आज्ञा-पालन वे खुशीसे किया करें, न कि यह कि उल्टे, विवेकको उनका निस्सहाय गुलाम होना पड़े।

माना कि बच्चोंकी विवेक-शक्ति सुषुप्तावस्थामें होती है, परन्तु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेमसे जाग्रत कर सकता तथा उसे शिक्षित बना सकता है। वह बच्चोंमें संयमकी टेव डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि उनकी इन्द्रियोंके वशीभूत न होकर बचपनसे ही उनकी पथ-प्रदर्शक बन जाय। बच्चोंसे किसी वीर-

के उपदेशके अनुसार चलनेको कहना कोई संयम नहीं है। उससे किसी आदतका बीजारोपण नहीं होता। वे बच्चे, जिन्हें किसी कामको बिना सोचे-समझे ही करना सिखाया जाता है, काहिल हो जाते हैं। और यदि दैवात् कहीं दूसरा शिक्षक उन बच्चोंके चित्तरूपी सिंहासनसे वीर रूपी उस राजाको च्युत करा दे, जिसको पहला शिक्षक वहां आसीन कर गया था, तब तो जानो, वे अपने भावी जीवनमें किसी कामके नहीं रहे। और यदि शुरूसे ही, जो कुछ उनको बतलाया जाय, अच्छी तरह समझाया जाय और उसके बाद उनके सामने उन पुरुषोंके उदाहरण पेश किये जायं, जिन्होंने महान् काम किये हैं, ताकि उनके संकल्पमें प्राबल्य आवे या विवेककी पुष्टि हो, तो सम्भव है कि वे शक्तिशाली और चारित्र्यवान् नागरिक बनें और कठिन अवसरोंपर दृढ़ रहकर अपना मुख उज्ज्वल करें।

हिन्दी नवजीवन,
२९ जुलाई १९२६

: ८ :

प्रतिज्ञाका रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं :

"हम जिस कामको कर सकते हैं और करनेकी इच्छा भी करते हैं परन्तु फिर भी कर नही पाते और जब उस कार्यके करनेका समय आता है तो मनकी कमजोरीसे या तो हमें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण ही नहीं रहती या स्मरण रहनेपर भी हम उसकी अवहेलना कर देते है। ऐसा उपाय बताइये कि हम उस कार्यको करनेकेलिए बाधित हो जायं और अवश्य करे।"

ऐसा प्रश्न किसके मनमें उत्पन्न न होता होगा ? परन्तु

प्रश्नमें गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्यकी उन्नति करती है, इसका केवल एकमात्र कारण यह है कि प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भंग होनेकी गुंजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकनेके बाद अगर उसके भंग होनेकी गुंजाइश न हो तो पुरुषार्थके लिए कोई स्थान न रहे। संकल्प तो संकल्पकर्त्ता रूपी नाविकके लिए दीपरूपी है। दीपकी ओर लक्ष्य रक्खे तो अनेक तूफानोंमेंसे गुजरते हुए भी मनुष्य उबर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफानको शान्त नहीं कर सकता है, तो भी वह उस तूफानके बीचसे उसके सुरक्षित रूपसे निकल जानेकी शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्यका संकल्प हृदयरूपी समुद्रमें उछाल मारती हुई तरंगोंसे बचानेवाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालतमें संकल्प-कर्त्ताका पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न न ढूंढ़े मिला है और न वह मिलनेवाला ही है। यही बात उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो जो सत्य और यम-नियमादिकी महत्ता है वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करनेमें अथवा लाख-दस लाख रुपया एकत्र करनेमें मनुष्य भारी प्रयत्न करता है, उत्तर ध्रुव जैसी साधारण वस्तुका दर्शन करनेकेलिए अनेक मनुष्य अपनी जान-मालको जोखिममें डालनेमें भय नहीं खाते हैं तो राग-द्वेष इत्यादि रूपी महाशत्रुओंको जीतनेके लिए उपर्युक्त प्रयत्नोंकी अपेक्षा सहस्र गुना प्रयत्न करना पड़े तो उसमें आश्चर्य और क्षोभ क्यों हो? इस प्रकारकी अमर विजय प्राप्त करनेके प्रयत्न करनेमें ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तर ध्रुवका दर्शन न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है, किन्तु जबतक शरीरमें प्राण रहें तबतक राग-द्वेष इत्यादिको जीतनेमें जितना प्रयत्न किया जाय उतना हमारी

प्रगतिका ही सूचक है। ऐसी वस्तुकेलिए स्वल्प प्रयत्न भी निष्फल नहीं होता है, ऐसा भगवानका वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थीको तो इतना ही आश्वासन दे सकता हूं कि उनको प्रयत्न करते हुए हरगिज निराश न होना चाहिए और न संकल्पको छोड़ना चाहिए, बल्कि 'अशक्य' शब्द-को अपने शब्द-कोशसे पृथक कर देना चाहिए। संकल्पका स्मरण यदि भूल जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका पूरा ख्याल रखना चाहिए कि जहां भूले, वहींसे फिर चले या मनमें दृढ़ विश्वास रक्खे कि अन्तमें जीत तो उसीकी होगी। आज-तक किसी भी ज्ञानीने इस प्रकारका अनुभव नहीं बतलाया है कि असत्यकी कभी विजय हुई है, वरन सबने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकारकर बतलाया है कि अन्तमें सत्य ही की जय होती है। उस अनुभवका स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए ज़रा भी संकोच न करना चाहिए और शुभ संकल्प करते हुए किसीको डरना भी न चाहिए। पं० राम-भजदत्त चौधरी एक कविता लिखकर छोड़ गये हैं। उसका एक पद यह है—

"कधि नहिं हारना भावे साडी जान जावे।"

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

: ९ :

भिखारी साधु

लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भिखारी साधु' शब्दमें विरोध-

का आभास होना सम्भव है। लेकिन आजकल तो साधु वही कहलाते हैं, जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं--चाहे उनका हृदय भी गेरुआँ हो या न हो, स्वच्छ हो या मैला हो। 'साधु' शब्दका सच्चा अर्थ तो यह है कि जिसका हृदय साधु या पवित्र हो। परन्तु ऐसे सच्चे साधु तो हमको शायद ही मिलते हैं। भगवा वस्त्रवाला असाधु साधु भीख मांगता तक नज़र आता है। इसलिए इस प्रकार की भीख मांगनेवालोंके लिए 'भिखारी साधु' शब्दका प्रयोग किया गया है। उन्हींके विषयमें एक भाई लिखते हैं--

"आप चरखेकी प्रवृत्तिसे अनेक बातें सिद्ध करनेकी इच्छा करते हैं। सभी धर्मके लोगोंमेंसे क्या छोटे क्या बड़े भेद मिटानेका साधन आप चरखे-को समझते हैं और यह सब ठीक है, लेकिन आज शक्ति होते हुए भी बहुत-से भिखमंगे केवल प्रमादवश हिन्दुस्तानमें बढ़ रहे हैं और उनको आप चरखा क्यों नही बताते है ? कोई ऐसी संस्था क्यो नहीं खोलते है कि जिसमे जो भिखारी आवे वह कुछ उद्योग करके अन्न पा सके ? ऐसी कोई संस्था होगी तो दान देनेकी शक्तिवाले लोग भिखारियोंको चिट्ठी देकर उसी संस्थामे भेज देंगे और उन्हें वहां उद्यम और अन्न मिलेगा।"

यह बात तो सुन्दर है, पर उसपर अमल कौन करेगा ? गरीब लोगोंमें चरखेका प्रवेश करनेमें जितनी कठिनाई है, उससे अधिक कठिनाई भिखारी साधुओंमें चरखा फैलानेमें है, क्योंकि उसमें धर्म-भावना बदलनेकी बात आ जाती है। ये धनवान लोग यह समझते हैं कि झोलीवालोंकी झोलीमें थोड़े-बहुत जो कुछ पैसे डाल दिये, बस उतना परोपकार हो गया, पुण्य हुआ। उनको कौन समझाये कि ऐसा करनेमें उपकारके बदले अपकार और धर्मके स्थानपर अधर्म होता है। पाखण्ड बढ़ता है। छप्पन लाख नामधारी साधुओंमें सेवा-भाव जाग्रत हो जाय, वे उद्यम करके ही रोटी खावें तो हिन्दुस्तानके स्वयं-

सेवकोंका एक जबर्दस्त लश्कर बना तैयार मानो । गेरुआ वस्त्रधारी लोगोंको यह बात समझाना लगभग दुःसाध्य है । उनमें भी तीन प्रकारके लोग हैं । उनका एक बहुत बड़ा भाग पाखण्डी और केवल आलसी बनकर मालपुआ खानेकी इच्छा रखता है । दूसरा भाग कुछ जड़ है और यह माननेवाला है कि भगवा वस्त्र और परिश्रम, ये दोनों बातें आपसमें मेल नहीं खातीं । तीसरा भाग, जोकि बहुत छोटा है, वह सच्चे त्यागियोंका है, परन्तु ये लोग बहुत समयसे यही समझते चले आये हैं कि संन्यासीसे परोपकारके लिए भी उद्योग नहीं हो सकता । यदि यह तीसरा, छोटा भाग उद्योगका मूल्य समझ जाय तो भूतकालमें चाहे जो भी हुआ हो—"इस युगमें तो संन्यासीको उदाहरण प्रस्तुत करनेकेलिए उद्योग करना आवश्यक है", यदि यह बात यह छोटा वर्ग समझ जाय तो मान लो कि दूसरे दोनों वर्ग भी सुधर जायंगे । परन्तु इस वर्गको ऐसा समझाना बहुत कठिन है । कार्य धैर्यसे तथा उस वर्गकी अनुभव-प्राप्तिके साथ होगा । इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब हिन्दुस्तानमें चरखेका करीब-करीब साम्राज्य हो जायगा तब यह वर्ग इसकी शरण जायगा ।

चरखेके साम्राज्यके अर्थ हैं हृदय-साम्राज्य और हृदय-साम्राज्यके अर्थ हैं धर्म-वृद्धि । धर्म-वृद्धि होनेपर यह छोटा संन्यासी वर्ग उसे बिना पहचाने रहेगा ही नहीं ।

जितनी कठिनाई संन्यासी वर्गको समझानेमें रही है लगभग उतनी ही धनिक लोगोंको समझानेमें रही है । धनिक लोग यदि अपना धर्म समझ जायं, आलस्यको उत्तेजना न दें और उन भिखारियोंको अन्न न देकर उद्यम ही दें तो चरखेका साम्राज्य आज ही स्थापित हो जाय । परन्तु धनिक लोगोंसे ऐसी आशा

क्यों कर रक्खी जा सकती है ? धनिक लोग औरोंके मुकाबलेमें साधारणतया आलसी रहा करते हैं और आलस्यको उत्तेजना तो देते ही हैं। उनसे जाने या अनजाने आलसी भिक्षुओंको उत्तेजना मिल जाती है। इसलिए लेखकने सूचना तो अच्छी ही की है, परन्तु इसपर अमल करना बहुत कठिन है—इस बातपर उसने विचार नहीं किया। ऐसा करनेके यह आशय नहीं है कि हम प्रयत्न न करें, बल्कि प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यदि एक भी धनवान व्यक्ति, समझ-बूझकर आलसी लोगोंको दान देना बन्द कर दें, यदि एक ही साधु जो अपंग नहीं है, उद्यमके बिना भोजन न करनेका संकल्प कर ले तो इतना हिन्दुस्तानका लाभ ही है। इसलिए जहां-जहां इस प्रकारका प्रयत्न हो सकता है, वहां-वहां करना ही उचित है। हां, कठिनाईको हमेशा ध्यानमें रखना चाहिए, जिसमें तात्कालिक फल न मिलनेसे निराशा न होने पावे और अपने साधनको हम निरर्थक न समझ लें।

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

: १० :

त्योहार कैसे मनावें ?

एक पत्र-प्रेषक चाहते हैं कि मैं उन लोगोंको, जो ध्यान दें, इस बातसे सचेत कर दूं कि वे इस आगामी दिवालीपर अपना पैसा पटाखे, फुलझड़ी, खराब मिठाइयां और आरोग्यकेलिए हानिप्रद आतिशबाजीमें बरबाद न करें। मैं इस सूचनाका हृदय-से स्वागत करता हूं। अगर मेरे बसकी बात हो तो मैं लोगोंको

अपने घर और हृदयको साफ करनेमें लगा दूं, और उन दिनोंमें बच्चोंके लिए निर्दोष तथा शिक्षाप्रद खेल-खिलौनोंकी व्यवस्था करनेके लिए उनसे कहूं। मैं जानता हूं कि पटाखे और फुलझड़ी बच्चोंको बड़े प्यारे होते हैं। पर वे प्यारे इसलिए हैं कि हम बड़े-बूढ़ोंने उनको इन चीजोंकी आदत लगा दी है। अफ्रीकाके सरल स्वभाव बालकोंको मैंने कभी इन पटाखे-फुलझड़ियोंको मांगते या उनकी तारीफ करते नहीं देखा। इसके बदले उनमें नाच होते हैं। बच्चोंके लिए खेल-कूद और गोठकी अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद और अच्छा क्या हो सकता है ? हां, इन गोठ या प्रीतिभोजमें बाजारकी ऐसी मिठाइयां न खाई जायं, जिनकी शुद्धताके बारेमें सदा शंका ही होती है। इनके बजाय ताजे और सूखे फल खाये जायं। अमीर और गरीब बालकोंको मकान साफ करने तथा उनमें सफेदी करनेका काम भी ज़रूर सिखाया जाय। अगर उन्हें परिश्रमका गौरव बताया जाय तो यह एक अच्छी बात होगी और उसका आरंभ वे त्योहारोंसे ही करें। पर मैं जिस बातपर ज़ोर देना चाहता हूं वह यह है कि इन पटाखे-फुलझड़ियोंसे बचनेवाला यदि सारा पैसा नहीं तो कमसे-कम उसका कुछ हिस्सा तो जरूर खादीके खरीदनेमें लगाना चाहिए। पर यदि इसे कोई पाप समझे तो वह पैसा और किसी ऐसे काममें लगाया जाय, जिससे गरीबोंकी सेवा हो रही है। स्त्री-पुरुषों और बालक-बूढ़ोंके लिए इससे अधिक आनन्ददायक और दूसरी बात क्या हो सकती है कि वे अपने त्योहारोंके दिनोंमें अपने देशके गरीब-से-गरीब लोगोंका खयाल करें।

हिन्दी नवजीवन

२५ अक्तूबर १९२८

: ११ :

विचारकी कीमिया

[अध्यापक जैक्सकी एक किताबके आधारपर, जिसका शब्दार्थ 'विचारकी कीमिया' है, 'यंग इंडिया' में श्री 'पी०' ने एक लेख लिखा है, जिसके आधारपर नीचेका लेख लिखा गया है ।]

विचारकी कीमियाके मानी यह है कि विचार कीमियाका काम करता है । यह तो कोई नहीं कह सकता कि कोई कीमियागर कभी लोहे से सोना बना सका होगा या नहीं, किन्तु विचार तो निरन्तर कीमियाका काम करता ही जाता है । एक विचार करनेसे आदमी भयसे फीका पड़ जाता है तो उससे उलटा दूसरा विचार करनेसे उसके चेहरे पर लाली आ जाती है । 'मुझे तो पेटमें शूल उठा है', 'अब मेरा समय हो आया' आदि विचार मैं करूं तो तुरत ही मेरा चेहरा उतर जायगा । मगर यह विचार करके कि 'शूलमें तो कुछ नहीं है, यह तुरत ही मिट जायगा' मैं उसकी परवा न करूं तो इससे खुशीमें ही रहूंगा । कोई परदेशी मेरे घरपर चढ़ आता है, उसके विषयमें मेरे मनमें शंका होती है । मैं उसे खूनी मान लेता हूं और डर जाता हूं । मेरा लड़का आकर कहता है—'यह तो हमारे कुटुम्बके पुराने स्नेही हैं। बचपनसे परदेशमें रहनेके कारण आप इन्हें पहचानते नहीं। ये आज हमारे यहां मेहमान हैं और अच्छी खबर लेकर आये हैं ।' यह सुनकर मेरा मन स्वस्थ हो जाता है । पहले जिससे मैं डरता था, अब उसका आदरसे स्वागत करता हूं । यह सब विचारकी कीमिया है । विचार हमें घड़ी भरमें राजा बनाता है, और घड़ी भरमें ही रंक बनाता है । विचारका ऐसा साम्राज्य

है। वचनकी अपेक्षा, शारीरिक क्रियाके बनिस्बत विचार अनन्त गुनी प्रबल शक्ति है। शारीरिक क्रिया विचारका स्थूलतम रूप है। वाचा उसका स्थूल रूप है। दोनों क्रियाएं विचारको मर्यादित करती हैं। यह जो होता है सो यथार्थ ही है। अगर ऐसा न हो तो दुनियाका नाश ही हो जाय। मगर यह तो हुआ विचारकी शक्तिको बतलानेवाला सबूत। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विचारके बिना वाचा या कार्य जड़वत् वस्तु है, उनकी कोई कीमत नहीं है।

इस विचारसरणीका अनुकरण करके अध्यापक जैक्स कहते हैं, "धर्मके समान महान् और व्यापक शक्ति पोथीमें बनाये हुए नियमोंका खेल नहीं है। वह 'हां' या 'ना' की तिजोरी नहीं है, विधि-निषेधका भण्डार नहीं है। जो धर्मका, अहिंसाका, नीतिका पालन करना चाहता है, उसे तलवारकी धारपर चलना है। उसके लिए अहिंसाकी व्याख्या या हिज्जेका कोई शब्द-कोश नहीं है कि जिसे लेकर वह अहिंसाकी परीक्षामें सोलहो आने पूरा उतर जाय। धर्म-पालन ऐसी कुछ सही-सलामत वस्तु नहीं है। यह तो अनुभवोंकी खानमें दबा हुआ रत्न है। उसे करोड़ों भर जीवोंमें से कोई-ही-कोई खोज लाते हैं। जो सही-सलामतीका रुक्का मांगता है, धर्म उसके लिए नहीं है। धर्मका क्षेत्र तो शंका और निश्चयके बीचमें पड़ा हुआ है। यह धर्म ही है, या यही धर्म है, यह मानने या कहनेवाला धर्मको नहीं जानता है। धर्मका जिज्ञासु यह कबूल करता हुआ कि यह 'धर्म हो सकता है और न भी हो सकता है' अपने अन्तर्नादके वश होकर निश्चयपूर्वक और निश्चिन्त होकर अपना काम करता है। स्वयं सर्वज्ञ न होनेसे एक तरफ उसके मनमें निश्चय है, और

दूसरी तरफ वह उस शंकाके लिए भी अवकाश रखता है कि शायद भूल ही होती होगी।"

यह विद्वान् फिर आगे चलकर कहता है, "जिस तरह हम छाती ठोंककर गणित-शास्त्रमें कह सकते हैं कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं, उसी तरह छाती ठोंककर, निश्चय-पूर्वक नीतिशास्त्रमें नहीं कह सकते कि यही कर्त्तव्य हो सकता है, दूसरा कभी नहीं। धर्म या अहिंसाका रहस्य ऐसे परिणामकी खोज में नहीं है, जोकि सिद्ध किया जा सके। इस प्रकारके प्रमाणोंके परे जानेमें और जहां ऐसे प्रमाण अशक्य है, वहां अमुक खतरे उठानेमें ही धर्मका या अहिंसाका रहस्य प्रकट होता है।" हमारी भाषामें इसका नाम श्रद्धा है। धर्म तो श्रद्धाके ऊपर गठित वस्तु है। पंचेन्द्रियसे जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, उसका प्रमाण श्रद्धा है। इसलिए अन्तर्नादको श्रद्धा-पूर्वक मान लेनेसे ही हम किसी कालमें धर्मका साक्षात्कार कर सकनेकी आशा रख सकते हैं। इसलिए श्री जैक्स कहते हैं, "जो आदमी अन्तर्नादकी परीक्षा कर चुकनेके बाद ही, पहले नहीं, उसे सुननेको तैयार होता है, उसने अन्तर्नादको सुना नहीं, वह हृदयमें रहनेवाली शक्तियोंको पहचानता ही नहीं। वह अन्तमें ऐसी नीति-रहित स्थितिको पहुंचता है कि तब उसके विषयमें यह कहा जा सकता है कि उसमें अन्तर्नाद नामक कोई वस्तु ही नहीं है।"

तब आदमी जब-जब दुःखों या जुल्मोंको देखे तो क्या करे? जैक्ससाहबका कहना है, "इन दोमेंसे कि या तो प्रयोग करूं या हाथ पर हाथ रखकर बैठा रहूं, मेरे लिए एक ही रास्ता है। उससे वस्तुस्थितिका जितना ज्ञान पाया जा सके, उसे प्राप्त

करके अपने प्रयोग करना ही मेरा धर्म हो जाता है। परन्तु उसमें इतना भय रहता है कि शायद मैंने अपनी गिनतीमें कहीं भूल की हो। कयामतके दिन भी अगर मुझसे कहा जाय कि तुम्हारे प्रयोग मिथ्या हैं तो भी मैं इन प्रयोगोंको पूर्ण करनेमें ही अपना जीवन बिताऊंगा। जो वस्तु मुझे सत्य जान पड़ती है, उसे करनेके लिए मैं अमुक प्रयोगोंमें भूल करनेका खतरा भी उठा लूंगा।" ये लेखक मानते हैं और हम देखते हैं कि यों भूल करनेके खतरे उठाकर किये गए प्रयोगोंसे कितने ही सत्योंकी खोज हो सकी है, क्योंकि ऐसी भूलके मूलमें शुद्ध हेतु होता है, सत्यकी उपासना होती है। और अनजानपनेमें हुई भूल कालान्तरमें विस्मरण हो जाती है।"

मनुष्यको भूलके पुतलेकी उपमा दी गई है। स्वराज्यकी एक व्याख्या है 'भूलें करनेका अधिकार' और यह सच्ची है। मैं जबतक भूलका दर्शन न करूं, तबतक तो मैं जिसे सत्य मानता हूं, मुझे उस धर्मका आचरण करना ही चाहिए, अगर बाहरी दबावके वश होकर मैंने जिसे सत्य माना है, उसका आचरण मैं न करूं तो मेरी भीरुता और अपने बारेमें मैं जिस असत्यकी कल्पना करूंगा, वह, ये दोनों मुझे कुतर खावेंगे।

इसके अलावा श्री जैक्स यह सूचना भी करते हैं कि जिस समाजमें बाहरसे घड़े हुए नीति-नियम ही प्रमाण गिने जाते हैं, वहां भले ही एक तरफकी सुव्यवस्था देखनेमें आती हो, लोग बाह्य सुखोंका भोग करते हों, किन्तु समाजमें से वीरता, प्रयत्न, निर्भयता, शोधकताका लय होता है, और इससे उन्नतिका मार्ग बन्द हो जाता है। महान् सिद्धान्तोंका महत्व उनके अर्थकी अपरिमिततामें छिपा रहता है। इस अपरिमित खानको

खोदते ही रहें, तभी ऐसे सिद्धान्तोंसे संसार शोभायमान हो सकता है और आगे बढ़ सकता है। किन्तु अभीका हमारा समाज बेड़ीसे जकड़ा हुआ-सा लगता है। प्राचीनोंका गुण-कीर्त्तन करनेमें और थोड़े सूखे बाह्याचारोंके पालनमें धर्म-मर्यादा आ गई-सी जान पड़ती है।

किन्तु धर्म कुछ ऐसी जड़ वस्तु-सी नहीं है। अहिंसा चेतन-युक्त प्रचण्ड शक्ति है। उसके अन्त या विस्तारको कोई माप नहीं सका है, सकेगा भी नहीं। अहिंसा है विश्वप्रेम, जीवमात्रके विषय-में करुणा और उसमेंसे प्रकट होनेवाली, अपनी देहको ही होम कर देनेकी शक्ति। यह प्रेम प्रकट होनेमें बहुत-सी भूलें भी हों तो उससे इस धर्मके विस्तारकी शोध छोड़ी नहीं जा सकती है। शुद्ध मार्गकी खोजमें होनेवाली भूलें भी हमें उस मार्गकी खोजमें एक पग आगे ले जाती हैं।

हिन्दी नवजीवन,
८ नवम्बर १९२८

: १२ :

कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे लिखे प्रश्न पूछते हैं—

"१. धर्मका वास्तविक रूप तथा उद्देश्य—आज धर्मके नामपर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं? ज़रा-ज़रासी बातोंमें धर्मकी दुहाई दी जाती है; किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो धर्मके उद्देश्य तथा रहस्यको जानते हों? इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षाका अभाव है। मुझे आशा है, आप इसपर और नीचे लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन' द्वारा अपने विचार प्रकट करनेका कष्ट स्वीकार करेंगे।

२. मनुष्यकी आत्माको किन साधनों द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है ?

३. क्या आपके विचारसे अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्योंका प्रायश्चित्त कर ले तो उनका फल नष्ट हो सकता है ?

४. मनुष्यके जीवनका उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिए ?"

मैं अपने लिए धर्मशास्त्रके गम्भीर अनुभवका दावा नहीं कर सकता। हां, धर्म-पालनके प्रयत्नका दावा मैं अवश्य करता हूं। अपने इस प्रयत्नमें मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकोंका कुछ लाभ हो सकता है, तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादाका उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नोंके उत्तर देनेकी चेष्टा करूंगा।

१. निस्सन्देह यह सच है कि आजकल देशमें धार्मिक शिक्षा-का अभाव है। धर्मकी शिक्षा धर्म-पालन द्वारा ही दी जा सकती है, कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। इसी कारण किसीने कहा है :

'सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम् ?'

अर्थात्—सत्संग मनुष्यके लिए क्या नहीं कर सकता ? तुलसीदासने सत्संगकी महिमाका जो वर्णन किया है, उसे कौन न जानता होगा ? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों-का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहले धर्म-पुस्तकोंका पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो शान्ति-प्रद होनेके बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य, समझदार मनुष्य दुनिया-भरकी फिक्र करनेके बदले पहले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू

कर दे। फिर तो 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'के न्यायानुसार एकके आरम्भका असर दूसरेपर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें तो किसीको किसीकी चिन्ता करनेकी जरूरत ही न रह जाय।

२. साधु-जीवनसे ही आत्म-शान्तिकी प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक, दोनोंका साधन है। साधु-जीवनका अर्थ है सत्य और अहिंसामय जीवन, संयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बन सकता। धर्मकी जड़ तो त्याग हीमें है।

३. पिछले दुष्कृत्योंका प्रायश्चित्त शक्य है और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्तका अर्थ न मिन्नतें है, न रोना-पीटना ही है। हां, उसमें उपवासादिकी गुंजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दोंमें, दुबारा दुष्कर्म न करनेका निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मोंके फलोंका कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जबतक प्रायश्चित्त नहीं किया जाता तबतक फल चक्रवृद्धि ब्याजकी भांति बढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेनेसे सूदकी वृद्धि बन्द हो जाती है।

४. मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्म-दर्शन है और उसकी सिद्धिका मुख्य एवं एक-मात्र उपाय पारमार्थिक भावसे जीवमात्रकी सेवा करना है। उनमें तन्मयता तथा अद्वैतके दर्शन करना है।

हिन्दी नवजीवन,
१५ अगस्त १९२९

: १३ :

बुद्धि बनाम श्रद्धा

'मूर्त्ति-पूजा' शीर्षक लेखमें मैंने लिखा था कि जहां बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहां श्रद्धाका आरम्भ होता है। अर्थात् श्रद्धा बुद्धिसे परे है। इसपरसे कई पाठकोंको यह शक हुआ है कि यदि श्रद्धा बुद्धिसे परे है तो वह अन्धी ही होनी चाहिए। मेरा मत इससे उल्टा है। जो श्रद्धा अन्धी है, वह श्रद्धा ही नहीं है। अगर कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक यह कहे कि आकाशमें पुष्प होते हैं, तो उसकी बात उचित नहीं मानी जा सकती। करोड़ों मनुष्योंका प्रत्यक्ष अनुभव इससे उल्टा है। आकाश-कुसुमको मानना श्रद्धा नहीं, बल्कि घोर अज्ञान है, क्योंकि आकाशमें पुष्प हैं या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका 'नास्तित्व' सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत जब हम यों कहते हैं कि ईश्वर है, तब हमारे कथनके 'अस्तित्व'को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। बुद्धिवादसे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेका कोई भले कितना ही प्रयत्न करे क्यों न करे, हरेक मनुष्यके दिलमें इस विषयकी शंका तो फिर भी बनी ही रहेगी। उधर करोड़ोंका अनुभव ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामलेमें श्रद्धाकी पुष्टिमें अनुभूत ज्ञानका होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभवपर अवलम्बित है और जिसे श्रद्धा है, उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही। परन्तु श्रद्धावान कभी अनुभवकी आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धामें शंकाको स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है।

वह स्वयं अपनी बुद्धिसे जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धिसे भी अधिक है—परे है—वह श्रद्धा है। जहां बुद्धि नही पहुंचती, वहां श्रद्धा पहुंच जाती है। बुद्धिकी उत्पत्तिका स्थान मस्तिक है, श्रद्धाका हृदय। और यह जगत्का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धिबलसे हृदय-बल सहस्रशः अधिक है। श्रद्धासे जहाज चलते हैं, श्रद्धासे मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धासे वह पहाड़ों—अंचलों—को चला सकता है। श्रद्धावानको कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमानको हमेशा पराजयका डर रहता है। बालक प्रह्लादमें बुद्धिकी न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरुके समान अचल थी। श्रद्धामें विवादको स्थान ही नहीं। इसलिए एककी श्रद्धा दूसरेके काम नहीं आ सकती। एक मनुष्य श्रद्धासे दरिया पार हो जायगा, मगर दूसरा, जो अन्धानुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इसी कारण भगवान कृष्णने गीताके १७ वें अध्यायमें कहा है—**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**—जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है।

तुलसीदासजीकी श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धाने हिन्दू संसारको रामायणके समान ग्रन्थ-रत्न भेंट किया है। रामायण विद्वत्तासे पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्तिके प्रभावके मुकाबले उसकी विद्वत्ताका कोई महत्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धिके क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धासे अन्तर्ज्ञान—आत्म-ज्ञानकी वृद्धि होती है, इसलिए अन्तःशुद्धि तो होती ही है। बुद्धिसे बाह्य-ज्ञानकी, सृष्टिके ज्ञानकी वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तः-शुद्धिके साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य-भ्रष्ट भी पाये जाते हैं। मगर श्रद्धाके साथ चारित्र्य-शून्यताका होना असम्भव है। इसपरसे

पाठक समझ सकते हैं कि एक बालक श्रद्धाकी पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे ? इसका उत्तर गीतामें है, रामचरित मानसमें है। भक्तिसे, सत्संगसे श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन-जिनको सत्संगका प्रसाद प्राप्त हुआ है, उन्होंने—

सत्संगति कथय किं न करोति पुंसाम् ?

वचनामृतका अनुभव अवश्य किया होगा।

हिन्दी नवजीवन,
१९ सितम्बर १९२९

: १४ :

'दरजे'का अर्थ

हरिजन-सेवक-संघका हालमें जो नया विधान बना है, उसके बारेमें एक अत्यन्त प्रतिष्ठित हरिजन-सेवक लिखते हैं—

"अ और ब प्रतिज्ञामें 'दरजा' शब्द आता है। अगर उसका अर्थ यह है कि जैसे कानूनमें कोई ऊंचा-नीचा नहीं है वैसे ही ईश्वरकी दृष्टिमें भी कोई ऊंचा-नीचा नही है, तो हमारे यहांके सदस्य उसको मानने केलिए तैयार हैं। अर्थात्, धर्म या दर्शनशास्त्रके सिद्धान्तके बतौर, आध्यात्मिक रूपमें, वे इस बातको मानते हैं। लेकिन अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि दुनियावी व्यवहारमें मालिक-नौकर, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, न्यायाधीश और कैदी आदिके बीच दरजेका कोई अन्तर ही न होना चाहिए, तो हमारे लिए इस प्रतिज्ञापत्रपर दस्तखत करना मुश्किल है। इसलिए आप यह बतलानेकी कृपा करें कि यहांपर 'दरजे'का जो उल्लेख हुआ है वह सांसारिकके बजाय आध्यात्मिक रूपमें ही है या नहीं ?"

प्रतिज्ञाके जिस अंशका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह निम्न प्रकार है :

"मैं किसी मनुष्यको अपनेसे दरजेमें नीचा नहीं समझता, और अपने इस विश्वासपर चलनेका मैं भरसक प्रयत्न करूंगा।"

मैं समझता हूं कि ऊपरकी बातका जवाब तो प्रतिज्ञामें ही दिया हुआ है। लेकिन पत्र-लेखक समानताका अर्थ भिन्नताओंका नाश करके भ्रममें पड़ गये मालूम पड़ते हैं। अगर यह भिन्नता या विविधता बिल्कुल ही न होती तो यह दृश्य जगत् ही कहां होता, और समानता या ऊंच-नीचके भावका प्रश्न ही न उठता। लेकिन जब ईश्वर अनेक रूप धारण करता है तब उन विविध रूपोंमें भिन्नता करनी ही पड़ती है। ईश्वरके कोई अंग दूसरे अंगोंकी अपेक्षा ऊंचे या श्रेष्ठ होनेका दावा करें तो उसे सृष्टि-कर्त्ताके विरुद्ध विद्रोह ही कहा जायगा, क्योंकि उन सबके बीच कद, रंग, रूप, गुण आदिकी भिन्नता चाहे जितनी हो, फिर भी दरजेमें तो वे बराबर ही मानें जायंगे। पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक, न्यायाधीश और अपराधी, जेलर और कैदीके बीच अन्तर तो है ही; लेकिन जो पति अपनी पत्नीसे, मालिक नौकरसे, या न्यायाधीश सजा पानेवाले अपराधीसे अपनेको ऊंचा माने, तो वह अधर्माचरण होगा। दुनियाका सारा दुःख इस असमानताकी भावनासे पैदा हुआ है। हिन्दू जिस अस्पृश्यताका पालन करते हैं, वह इसका आखिरी रूप है। इसलिए इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हरिजन-सेवक इस पुराने पापको धो डालते समय अन्तर्दृष्टि करके विचार करे और असमानताके विषको अपने हृदयसे बिल्कुल निकाल डाले? लेकिन यह किस प्रकार मालूम होगा कि अमुक मालिक तो अपने नौकरको अपनेसे नीचा मानता है और अमुक उसे अपने समान समझता है? इसका पता इसीसे चल सकता है कि पहले मालिक

को अपने नौकरके सुख-दुःखका कोई खयाल ही नहीं होगा, क्योंकि उसे तो सिवा इसके और कोई मतलब नहीं कि नौकरको तनख्वाह देकर उसके बदले काम लिया जाय, जबकि दूसरा अपने कुटुम्बीकी तरह उसका खयाल रक्खेगा। ईश्वर-परायण कुटुम्बोंमें मालिकके बाल-बच्चे पुराने नौकरोंको मां-बापकी तरह मानते हैं। नौकरोंके सुख-दुःखमें मालिक भी शरीक होते हैं। नौकरोंको ऐसा महसूस नहीं होता कि वे मालिकसे नीचे दरजेके हैं। मालिक उल्टे रास्ते जाय तो वे उसे टोकते भी हैं। घमण्डी और विनम्र मालिकके बीच वैसा ही अन्तर है, जैसा खड़िया और मलाईके बीच। उनमें कम-ज्यादाका कोई भेद नहीं है, उनकी तो किस्म ही अलग-अलग है। समानताकी यह स्थिति प्रकृतिजन्य है और बुद्धि एवं हृदय रखनेवाले मनुष्यकी हैसियत-से यही हमें शोभा देती है मगर फिर भी हम सब अभी इस स्थितिसे बहुत दूर हैं। लेकिन बजाय इसके कि मरनेके बाद इसके अनुसार व्यवहार करनेकी आशा करें, हमें अपने रोजमर्रा-के ही जीवनमें इसे कार्यान्वित करनेका प्रयत्न करना चाहिए। अगर सच्चे दिलसे हम ऐसा करने का प्रयत्न न करें, तो फिर कानूनकी दृष्टिमें समानताका अर्थ ही क्या हो सकता है?

हरिजन सेवक,
२२ फरवरी १९३५

: १५ :

चरित्रबलकी आवश्यकता

अच्छी तरह हरिजन-सेवा करनेके लिए ही नहीं, बल्कि

गरीब, अनाथ, असहायोंकी सब तरहकी सेवाके लिए, यह ज़रूरी है कि लोक-सेवकका अपना चरित्र शुद्ध और पवित्र हो। चरित्र-बल अगर न हो, तो ऊंची-से-ऊंची बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यताकी भी कोई क़ीमत नहीं। वह तो उल्टे अड़चन भी बन सकती है। जबकि शुद्ध चरित्रके साथ-साथ ऐसी सेवाका प्रेम भी हो तो उससे आवश्यक बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता भी निश्चय ही बढ़ जायगी या पैदा हो जायगी। हरिजन-सेवामें लगे हुए दो अच्छे प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओंकी शोचनीय चरित्र-हीनताके दो अत्यन्त दुःखद उदाहरण मेरे सामने आये हैं, जिन-परसे मैं यह बात कह रहा हूं। इन दोनोंको जो लोग जानते थे, वे सब इन्हें शुद्ध चरित्रका और सन्देहसे परे मानते थे। लेकिन इन दोनोंने ऐसा आचरण किया है, जो, जिस पदपर ये आसीन थे, उसके बिल्कुल अनुपयुक्त है। इसमें कोई शक नहीं कि वे अपने हृदयके अंधेरे कोनेमें ज़हरीले सांपकी तरह छिपी हुई विषय-वासनाके शिकार हुए हैं। लेकन हम तो मर्त्यलोकके साधारण जीव ठहरे, दूसरोंके मन में क्या है, यह हम नहीं जान सकते। हम तो मनुष्योंको सिर्फ़ उनके उन कामोंसे ही जान सकते हैं, और हमें उन्हींपरसे उनके बारेमें कुछ निर्णय करना, चाहिए, जिन्हें कि हम देख और पूरा कर सकते हैं।

आजकलके सार्वजनिक जीवनमें एक ऐसी प्रवृत्ति है कि जबतक कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने जिम्मेके किसी व्यवस्था-कार्यको अच्छी तरह पूरा करता है, उसके चरित्रके सम्बन्धमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता। कहा यह जाता है कि चरित्रपर ध्यान देना हरेकका अपना निजी काम है, हमें उसमें दख़ल देने-की कोई ज़रूरत नहीं। हालांकि मैं जानता हूं कि यह बात अक्सर

कही जाती है, लेकिन इस विचारको ग्रहण करना तो दूर, मैं इसे ठीक भी नहीं समझ सका हूं। जिन संस्थाओंने व्यक्तियोंके निज चरित्रको विशेष महत्त्व नहीं दिया, उनमें उससे कैसे-कैसे भयंकर परिणाम सामने आये, इसका मुझे पता है। बावजूद इसके पाठकोंको यह जान लेना ज़रूरी है कि इस समय मैं जो बात कह रहा हूं, वह सिर्फ हरिजन-सेवक-संघ जैसी उन संस्थाओंके ही बारेमें ही कह रहा हूं, जो करोड़ों मूक लोगोंके हितकी संरक्षक बनना चाहती हैं। मगर मुझे इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी किसी भी सेवाके लिए शुद्ध और निष्कलंक चरित्रका होना अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। हरिजन-सेवा अथवा खादी या ग्रामोद्योगके काममें लगे हुए कार्यकर्त्ताओंके लिए तो उन बिल्कुल सीधे-सादे, निर्दोष और अज्ञान स्त्री-पुरुषोंके सम्पर्कमें आना बहुत ज़रूरी है, जो बौद्धिक दृष्टिसे संभवतः बच्चोंके समान होंगे। अगर उनमें चरित्रबल न होगा तो अन्तमें जाकर जरूर उनका पतन होगा और उसके फलस्वरूप जिस उद्देश्यके लिए वे काम कर रहे हैं, उसे उस कार्यक्षेत्रमें और भी धक्का लगेगा, जिसमें सर्वसाधारण उनसे परिचित हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि ऐसी सेवामें जितने लोग लगे हुए हैं, उनकी संख्याके लिहाजसे ऐसे इक्के-दुक्के ही हैं। लेकिन बीच-बीचमें ऐसे मामले प्रायः होते रहते हैं, इसलिए जो संस्थाएं और कार्यकर्त्ता ऐसे सेवा-कार्यों में लगे हुए हैं, उन्हें सार्वजनिक रूपमें सावधान करने और चेतावनी देनेकी जरूरत है। कार्यकर्त्ता तो इसके लिए जितने भी अधिक सतर्क और सावधान रहें, उतना ही कम है।

हरिजन सेवक,

७ नवम्बर १९३६

: १६ :

कर्तव्यच्युत क्या करे ?

"आप अनैतिक आचरणके किस्से प्रकाशमें लाते है और उनसे संबंध रखनेवाले व्यक्तियोंको अपना पद छोड़ देनेकी सिफारिश करते है। उनके काममें बाह्य दृष्टिसे आप दोष नही बता सके, आपने उनके काम-की स्तुति भी की है। पर अब उनकी योग्यता भी खत्म हो गई ? उनका उपयोग अब जनताको नही मिल सकता ? उनकी स्थान-पूर्ति कौन करे ?"

यह प्रश्न विचारणीय है। मैं मानता हूं, और मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि चाहे जैसा होशियार आदमी हो, उसकी भी गुप्त अनीतिका असर उसके कामके ऊपर पड़े बिना नहीं रहता।

इस नियममें मर्यादा तो है ही, और वह यह कि कार्यकर्त्ताको नैतिकताकी जरूरत है। कुशलता न होते हुए भी जिसका चारित्र्य पूर्णतया शुद्ध है, उसका काम दिप उठा है। नैतिकताके पायेके ऊपर रचे हुए कामोंकी तरफ नजर डालनेवालेको मेरी बात कायल किये बिना नहीं रहेगी। अस्पृश्यता-निवारण चरित्रहीन मनुष्योंके द्वारा अशक्य है, ऐसा माननेमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। सनातनी हिंदुओंकी मान्यताको अच्छे-से-अच्छे शास्त्रोंका प्रवीण वक्ता किस तरह पलट सकता है ? उनकी बुद्धिपर होनेवाला प्रहार व्यर्थ जाता है। चैतन्य, रामकृष्ण, राममोहनराय, दयानंद आदिका प्रभाव आज भी काम कर रहा है, इसका आधार और कौन-सा बल होगा ? उनकी उपेक्षा तीव्रबुद्धिके मनुष्य शायद काफी देखनेमें आयंगे। पर वे मानव-हृदयमें परिवर्तन नहीं करा सके।

पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि चरित्रवान व्यक्तियों

में भी उद्यम, आवश्यक ज्ञान प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा, विवेक आदि तो होना ही चाहिए।

जो सार्वजनिक संस्थामेंसे निकल गये हैं, वे अगर सेवा करने की उमंग रखते हों, तो उससे वे मुक्त नहीं होते, मुक्त हो नहीं सकते। किसीको कोई धर्ममुक्त नहीं कर सकता। धर्म तो उसका है, जो उसे पालता है। जिसका पतन हुआ है, वह मूर्च्छासे जाग गया हो तो चाहे जहां रहकर सेवा कर सकता है। उसे किसी गांवमें बसनेसे कौन रोक सकता है? मूक रीतिसे गांव में भंगीका काम करते हुए उसे कौन रोकेगा? कातते हुए और दूसरोंको कातना सिखाते हुए या हरिजनोंकी सेवा करते हुए क्या रुकावट आ सकती है? ऐसा करते-करते इस तरहसे स्वच्छ बन जाय कि समाजके सामने खड़े होनेमें उसे कोई बाधा न आवे अथवा अपने स्थानपर अदृष्ट रहकर भी उसका प्रभाव ऐसा पड़े कि उसका असर व्यापक हो जाय। पापका निवारण ही नहीं, ऐसा न मैंने कभी कहा है न माना है। पतितोंमें भी अग्रस्थान पानेवाले महापुण्यात्मा हो सकते हैं। तुलसीदासके विषयमें ऐसा ही किसी इतिहासकारने कहा है। गीता पुकार-पुकारकर कहती है कि महापापीके लिए भी भक्तिमार्ग मुक्तिप्रद हो जाता है। इसीसे भगवान्का एक विशेषण 'पतित-पावन' है।

हरिजन सेवक,
१९ दिसम्बर १९३६

: १७ :

सत्य कैसे प्राप्त हो ?

"लब बिबंदो चश्म बंदो गोश बंद,
गर नबीनी सिररे हक़, बर मा बिखंद ।"

—"तू अपने होठ बंद रख, आंख बंद रख, कान बंद रख। इतनेपर भी तुझे सत्यका गूढ़ तत्त्व न मिले तो मेरी हँसी उड़ाना।"

यह मौलाना रूमका शेर है। ऐसे-ऐसे रत्न कभी-कभी कच्छके चमन कवि मेरे पास भेज दिया करते हैं। जब मैं राजकोट-में था, तब ऊपरका शेर, अर्थसहित, उन्होंने भेजा था।

आज जबकि हम चाहे जो बकवाद करते रहते हैं, जब कान चाहे जो सच्ची; झूठी, गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब यह वचन वाणकी तरह सीधा हमारे हृदयमें बिंध जाना चाहिए। सत्यकी शोधमें ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही होठ, कान और आंखको बिल्कुल बंद न करें और अगर कर लें तो इससे कुछ गंवायेंगे नहीं, पर इतना तो हम अवश्य कर सकते हैं—होठसे असत्य या कटु वचन न बोलें, कानसे किसीकी निंदा या गंदी बातें न सुनें, आंखसे अपनी इंद्रियोंको विचलित करनेवाली कोई चीज न देखें, किंतु सत्य ही बोलें, वही सुनें, जो हमें आगे ले जाय और आंखसे ईश्वरकी दया-माया देखें, संत-जनोंका दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्यका दर्शन कर सकेगा।

हरिजन सेवक,
२९ जुलाई १९३९